प्राकृत भाषाएँ
और
भारतीय संस्कृति में उनका अवदान

लेखक

एस० एम० कत्रे

अनुवादक

डा० रमाशंकर जैतली

संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

जयपुर

प्रस्तावना

भारत की स्वतंत्रता के बाद इसकी राष्ट्रभाषा को विश्वविद्यालय शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रश्न राष्ट्र के सम्मुख था। किन्तु हिन्दी में इस प्रयोजन के लिए अपेक्षित उपयुक्त पाठ्यपुस्तकें उपलब्ध नहीं होने से यह माध्यम-परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। परिणामतः भारत सरकार ने इस न्यूनता के निवारण के लिए "वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दावली आयोग" की स्थापना की थी। इसी योजना के अन्तर्गत पीछे १९६९ में पाँच हिन्दी भाषी प्रदेशों में ग्रंथ-अकादमियों की स्थापना की गयी।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी हिन्दी में विश्वविद्यालय स्तर के उत्कृष्ट ग्रन्थ-निर्माण में राजस्थान के प्रतिष्ठित विद्वानों तथा अध्यापकों का सहयोग प्राप्त कर रही है और मानविकी तथा विज्ञान के प्रायः सभी क्षेत्रों में उत्कृष्ट पाठ्य-ग्रन्थों का निर्माण करवा रही है। अकादमी चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अंत तक तीन सौ से भी अधिक ग्रन्थ प्रकाशित कर सकेगी, ऐसी हम आशा करते हैं। प्रस्तुत पुस्तक इसी क्रम में तैयार करवायी गयी है। हमें आशा है कि यह अपने विषय में उत्कृष्ट योगदान करेगी।

चंदनमल बैद
अध्यक्ष

स. ही. वात्स्यायन
निदेशक

विषय-सूची

प्राक्कथन

यह एक लघु पुस्तक का पुनर्मुद्रण है जो मैंने भारतीय विद्याभवन, बम्बई के सुयोग्य अध्यक्ष और संस्थापक श्री के० एम० मुंशी के आमंत्रण पर १९४५ में विद्याभवन सिरीज के तृतीय माला के रूप में लिखी थी। विगत दस वर्षों से यह पुस्तक अप्राप्य रही है, लेकिन इस सम्बन्ध में आग्रहों की निरन्तरता लेखक के पास पहुँचती रही है। इस बीच कलकत्ता विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा-विज्ञान के खैर प्रोफेसर डा० सुकुमार सेन ने अपने मौलिक ग्रन्थ 'कम्पेरेटिव ग्रामर आफ इन्डो आर्यन' को (इण्डियन लिंग्विस्टिक्स में क्रमशः प्रकाशित) भारत की 'लिंग्विस्टिक सोसायटी' के विशेष प्रकाशन के रूप में १९६० में संशोधित करके प्रकाशित कर दिया है। फिर भी एक छोटी-सी परिचयात्मक पुस्तक के लिए आवश्यकता अनुभव की जाती रही जोकि विशेषज्ञों के लिए न लिखी जाकर वैज्ञानिक उपलब्ध सामग्री के आधार पर सामान्यतया लिखी गई हो। इसमें आद्योपान्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण बनाए रखा गया है, केवल लोकप्रियता के लिए उसकी बलि नहीं दी गई है।

इस मौलिक ग्रन्थ के प्रकाशन के बाद से मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के क्षेत्र में अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। प्रोफेसर फ्रैंकलिन एड-गर्टन की 'बुद्धिष्ट हाइब्रिड संस्कृत ग्रामर एण्ड लेक्सिकन' विशेष महत्व की है, इसके अतिरिक्त अपभ्रंश और अन्य प्राकृतों में अनेक ग्रन्थ प्रकाश में आ चुके हैं। बनारस में 'प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी' की स्थापना इस प्रासाद की एक अन्य आधार-शिला है। इसी परम्परा में बिहार में नालन्दा में बौद्ध अध्ययन संस्थान और वैशाली में जैन अध्ययन संस्थान की स्थापना हुई है।

१

भूमिका

'प्राकृत' शब्द हमारे प्राचीन वैयाकरणों और साहित्यिक समालोचकों द्वारा अनेक भाषाओं और बोलियों के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा है। इसके साक्ष्य लगभग ईसापूर्व पांचवीं शती से ग्यारहवीं शती तक लौकिक और धार्मिक साहित्य में पाए जाते हैं और इस तरह इसका काल-विस्तार सोलह शतियों से अधिक ठहरता है। शब्द की निरुक्ति को ध्यान में रखते हुए वैयाकरणों और आलंकारिकों ने प्राकृत शब्द की अनेक परिभाषाएं दी हैं। आम राय यह है कि 'प्राकृत' मूल शब्द 'प्रकृति' से उद्‌भूत हुआ है। 'प्रकृति' के रूप-भेद से 'प्राकृत' व्युत्पन्न होता है जिसका अर्थ है प्रकृति—मूल से उत्पन्न। सभी इससे सहमत हैं कि यह प्रकृति अर्थात् संस्कृत मूलतः देवभाषा है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राकृत भाषाएं संस्कृत की ही सीधी वंशज हैं जो स्थान और काल की दृष्टि से परिवर्तित और परिवर्धित होती रही हैं। या अन्ततः यों कहा जा सकता है ये भाषाएं जिस समान स्रोत से उद्‌भूत हुई हैं वह संस्कृत है। यह मत कदाचित् अब भी अविकसित दशा में वर्तमान भाषा-परिवार की संकल्पना को सर्वप्रथम नियमबद्ध करता है और अंततः तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की ओर ले जाता है। इस प्रकार संस्कृत और प्राकृत भाषाएं मिल कर एक भाषा-परिवार बनाती हैं जिसकी संस्कृत मूल प्रकृति है और प्राकृत भाषाएं उसमें उद्‌भूत हैं। दिक् और काल की दो प्रमुख अवस्थाओं के कारण उनमें विकास की जो अनेक प्रक्रियाएं हुई हैं उन्होंने उनको संस्कृत

पालि और प्राकृतों के अध्ययन में रुचि का पुनर्जागरण, शोध और विश्व-विद्यालय-क्षेत्रों में न केवल भारत में, बल्कि बाहर भी देखा जा सकता है। इसी सन्दर्भ में इस पुस्तक के प्रथम संस्करण का कुछ परिवर्तित पुनर्मुद्रण विद्वत् जगत् की भेंट किया जा रहा है, वह भी इस विनम्र आशा के साथ कि वह कुछ काम का होगा।

—एस० एम० कत्रे

१

भूमिका

'प्राकृत' शब्द हमारे प्राचीन वैयाकरणों और साहित्यिक समालोचकों द्वारा अनेक भाषाओं और बोलियों के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा है। इसके साक्ष्य लगभग ईसापूर्व पांचवीं शती से ग्यारहवीं शती तक लौकिक और धार्मिक साहित्य में पाए जाते हैं और इस तरह इसका काल-विस्तार सोलह शतियों से अधिक ठहरता है। शब्द की निरुक्ति को ध्यान में रखते हुए वैयाकरणों और आलंकारिकों ने प्राकृत शब्द की अनेक परिभाषाएं दी हैं। आम राय यह है कि 'प्राकृत' मूल शब्द 'प्रकृति' से उद्भूत हुआ है। 'प्रकृति' के रूप-भेद से 'प्राकृत' व्युत्पन्न होता है जिसका अर्थ है प्रकृति—मूल से उत्पन्न। सभी इससे सहमत हैं कि यह प्रकृति अर्थात् संस्कृत मूलतः देवभाषा है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राकृत भाषाएं संस्कृत की ही सीधी वंशज हैं जो स्थान और काल की दृष्टि से परिवर्तित और परिवर्धित होती रही हैं। या अन्ततः यों कहा जा सकता है ये भाषाएं जिस समान स्रोत से उद्भूत हुई हैं वह संस्कृत है। यह मत कदाचित् अब भी अविकसित दशा में वर्तमान भाषा-परिवार की संकल्पना को सर्वप्रथम नियमबद्ध करता है और अंततः तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की ओर ले जाता है। इस प्रकार संस्कृत और प्राकृत भाषाएं मिल कर एक भाषा-परिवार बनाती हैं जिसकी संस्कृत मूल प्रकृति है और प्राकृत भाषाएं उसमें उद्भूत हैं। दिक् और काल की दो प्रमुख अवस्थाओं के कारण उनमें विकास की जो अनेक प्रक्रियाएं हुई हैं उन्होंने उनको संस्कृत

से भिन्न बना दिया है। भारत के वैयाकरणों और आलंकारिकों ने 'प्राकृत' शब्द उन कुछ भाषाओं और बोलियों के लिए सीमित कर दिया है जो कुछ विशेष प्रकार के साहित्य में प्रयुक्त हुई हैं जैसे संस्कृत नाटकों या जैन धार्मिक साहित्य में अथवा कुछ हिन्दू और जैन गीतिकाव्य एवं महाकाव्यों में। इस प्रकार प्राकृत वर्ग में जो परिगणित होती हैं, वे हैं महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, आर्ष या अर्धमागधी, अपभ्रंश, पैशाची के प्रकार तथा कुछ विशेष ग्रन्थों में प्राप्त उनके अनेक उपभेद। मृच्छकटिक में प्राप्त मागधी आदि की शाकारी, चाण्डाली और शाबरी बोलियों को उनके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस शास्त्रीय परिभाषा की सीमा में दक्षिणी बौद्ध सम्प्रदायों की भाषा पालि, अशोक के समय से सुलभ प्राकृत अभिलेखों और सिक्कों में प्रयुक्त भाषाएं तथा भारत के बाहर प्राप्त दस्तावेज़ जैसे खरोष्ठी धम्मपद (खोतारी प्राकृत) या चीनी तुर्किस्तान के खरोष्ठी अभिलेख (निया प्राकृत) सन्निविष्ट नहीं हैं। १९०० में प्रकाशित प्राकृतों के ऐतिहासिक अध्ययन में आधुनिक गवेषणा के प्रथम प्रवर्तक पिशेल के महान् ग्रन्थ 'ग्रामेटिक' की भी यह सीमा है कि वह अपने विषयक्षेत्र में उन बोलियों की प्रचुर भाषा-सामग्री को नहीं समेटता जो प्राकृत पद की शास्त्रीय परिभाषा की सीमा में नहीं आतीं। सामने सम्बद्ध सामग्री के रहते हुए भी प्रत्यक्षतः कुछ विशेष कारणों से पिशेल प्राकृत पद की व्यापक परिभाषा के समस्त निहितार्थ को उसमें सम्मिलित न कर पाए फलतः अधिकतर शास्त्रीय परिभाषा का अनुगमन करते हुए उन्होंने प्राकृत पद की संकीर्ण-परिभाषा तक ही अपने को सीमित रखा।

प्राकृत शब्द की आश्चर्यजनक रूप से आधुनिक परिभाषा के लिए तो हम रुद्रट के काव्यालंकार के प्रसिद्ध टीकाकार नमिसाधु के ऋणी हैं। उनके अनुसार इन भाषाओं और बोलियों की मूल या प्रकृति सहज जन-भाषा है जोकि वैयाकरणों के मानवीय नियमों से अनियंत्रित है तथा अभिव्यक्ति एवं सम्पर्क का सामान्य माध्यम रही है, न कि देवताओं और विद्वानों की परिष्कृत भाषा संस्कृत। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राकृत शब्द सामान्य लोगों और उनके उत्तराधिकारियों की सहज अपरिष्कृत बोलियों के लिए प्रयुक्त होता है जोकि एक अपना भाषा-परिवार बनाती हैं। इस सम्बन्ध में कालिदास के द्वारा उनके बहुशः उद्धृत स्थल—'राजा प्रकृतिरंजनात्' में इस शब्द का विशेष प्रयोग ध्यान देने योग्य है जहां इसका अर्थ है राजा की प्रजा अर्थात् अपनी समष्टि में राज्य के सामान्य जन।

वस्तुतः हमें यहीं विश्राम नहीं करना है। प्राकृत के अर्थ को और

भी विस्तार दिया जा सकता है जिससे उसमें अशुद्ध संस्कृत के अनेक प्रकार समाहित हो सकें। इसका एक प्रकार महायान बौद्धों द्वारा उनके संस्कृत ग्रन्थों में प्रयुक्त हुआ है जिसे गाथा कहते हैं। (यद्यपि अपरिष्कृत संस्कृत स्वयं में एक विरोधात्मक शब्द है, परन्तु हिन्दू, बौद्ध और जैन ग्रन्थों में उपलब्ध इसके रूप साक्ष्य में प्रस्तुत किए जा सकते हैं) भारत में इस शाखा या भाषा-परिवार के इतिहास का आरम्भ लगभग द्वितीय सहस्त्राब्दी ईसा पूर्व आक्रामक आर्यों द्वारा हुआ जिसने भारतीय भूमि पर अपनी नई विशेषताएं विकसित कीं। इसका अध्ययन इसकी अपनी सम्पूर्णता में किया जाना चाहिए जिससे कि इस ज्ञातव्य समय के सांस्कृतिक और अन्य विकासात्मक कार्यों के सही और व्यापक चित्र मिल सकें। इस विस्तृत अर्थ में प्राकृत के स्थान पर अधिक सामान्य 'संस्कृतीय' शब्द संभवतः दूसरे में अधिक स्पष्टता से उभरता है, क्योंकि प्रथम में 'प्रकृति' के द्वारा जो मात्र ध्वनित था वह दूसरे में 'संस्कृत' से समीकृत होकर सुस्पष्ट हो गया है। यदि वह इष्टार्थ हमारी नयी परिभाषा के आधार पर 'संस्कृतीय' पद से निकल सके तो हमें एक नया पारिभाषिक शब्द मिल जाता है जोकि प्राचीन वैयाकरणों के नियम-विधान से ऊपर उठ कर ऐसी भाषाओं के समस्त परिवार को अपने में समाहित करने में पर्याप्त हो सकता है। फिर भी इस बात की संभावना है कि शब्द के अर्थ को समझने में त्रुटि हो जाए, यह शब्द तकनीकी शब्द से अभीष्ट सरलता, सुस्पष्टता, ऋजुता जैसी सभी शर्तों को पूरा नहीं कर सकता। इसलिए यह आवश्यक है कि हमें एक नया शब्द खोज कर स्थापित करना चाहिए जोकि अत्यन्त विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावली की वेदी पर सरलता का बलिदान किए बिना हमारा काम अच्छी तरह चला सके।

परन्तु ऐसा करने से पूर्व संस्कृत शब्द को परख लेना आवश्यक है। यह शब्द उस भाषा को संकेतित करता है जोकि संस्कार-प्राप्त और परिमार्जित है अर्थात् जिसे वैयाकरणों ने अपने प्रयत्नों से पूर्ण बना दिया है। पाणिनि इस भाषा के विकास की सर्वोच्च अवस्था का प्रतिनिधित्व करते हैं और जहां तक भाषा की शुद्धता का सम्बन्ध है, संस्कृत क्षेत्र पर उनका पूर्ण आधिपत्य है। परन्तु पतंजलि अपने महाभाष्य में कुछ इलाकों में प्रचलित रूपों के आधार पर कुछ मुहाविरों को भी स्वीकार करते हैं और इन रूपों को शुद्ध संस्कृत मानते हैं, यद्यपि ये मानक संस्कृत के समूचे क्षेत्र में प्रचलित नहीं हैं। हम इस तरह शिष्टों में प्रचलित उस भाषा तक इसका अर्थविस्तार करने के लिए बाध्य हो जाते हैं, जोकि देश के विद्वानों और परिष्कृत रुचि के लोगों की अभिव्यक्ति का माध्यम रही है तथा जिसमें सांस्कृतिक भाषा

का सर्वोच्च रूप मिलता है। इस विस्तृत अर्थ में संस्कृत शब्द समस्त आर्यावर्त में केवल संस्कृति का आदर्श माध्यम ही नहीं ठहरता, बल्कि अपने व्यापक क्षेत्र के कुछ छोटे इलाकों में शिष्टों के बीच प्रचलित माध्यम का भी बोध कराता है। दूसरे शब्दों में हमें संस्कृत के अन्तर्गत उसके विस्तृततम अर्थ में न केवल एक आदर्श भाषा को बल्कि बहुत-सी क्षेत्रीय विशेषताओं के कारण परस्पर विभिन्न आदर्श बोलियों को भी स्वीकार करना पड़ता है जिनमें से हर एक अपनी मुख्य विशेषताओं के कारण कालानुसार विकसित होती रही। इस प्रकार क्षेत्रीय बोलियों में विस्तार के अलावा कालिक सन्दर्भ में इसके विकास को भी ध्यान में रखना है। पाणिनि स्वयं वैदिक ग्रन्थों की भाषा छन्दस् से अपनी प्रसिद्ध अष्टाध्यायी में वर्णित भाषा या अपने समय के संस्कृत लोगों के भाषित माध्यम को विभिन्न बताते हैं। पूर्व और उत्तर के लोगों में प्रचलित इस भाषा के विभाग की ओर भी वह संकेत करते हैं। इस प्रकार संस्कृत शब्द स्वयं बहुत स्पष्ट नहीं हैं। उससे वैदिक ग्रन्थों की भाषा समझी जाए या बाद का उसका स्थिरीकृत रूप जिसे व्याकरण के नाना संप्रदायों से परिनिष्ठित रूप मिला तथा टीकाओं में जिसका प्रभावपूर्ण उपयोग किया गया दूसरे शब्दों में यदि आने वाले आर्यों द्वारा भारत में लाए गए इस भाषा-परिवार के सम्पूर्ण इतिहास को ध्यान में रखें तो यह शब्द बहुत अस्पष्ट प्रतीत होता है।

इस सम्बन्ध में पर्याप्त रूप से सुस्थापित वैज्ञानिक शब्द का पता लगाने के लिए जिसमें पिछले शब्दों जैसी अक्षमता नहीं, हमें अठारहवीं शती के उत्तरार्ध में योरप के लोगों द्वारा की गई 'संस्कृत' की खोज तक जाना होगा। यह तथाकथित खोज सामान्यत: भाषा के अध्ययन के लिए एक नए उपगम का आरम्भ है। सर विलियम जोन्स ने सर्वप्रथम संस्कृत, ग्रीक और लेटिन के बीच उद्भुत समानता का स्पष्ट उल्लेख किया और यह सामान्य सिद्धान्त स्थिर किया कि ये भाषाएं तथा प्राचीन फारसी एवं केल्टिक भाषाएं मूलत: समान स्रोत से उद्भूत हुई हैं। यह काम तो उन्नीसवीं शती के विद्वानों के लिए (जिनमें तुलनात्मक भाषा विज्ञान के पिता बाप प्रथम थे) छोड़ दिया गया कि वे इस उपज्ञप्ति या नवीन उपलब्धि को नए विज्ञान के रूप में आगे बढ़ाएं और भारोपीय परिवार की भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण की प्रतिष्ठा करें, जिसके आधार पर द्रविड़ और सेमेटिक परिवार जैसे अन्य भाषा-परिवारों का भी इसी प्रकार का ऐतिहासिक अध्ययन चलाया जा सके। इस नए विज्ञान में वेदों तथा भारत के क्लासिक साहित्य की भाषा-संस्कृत का प्रमुख स्थान था जिसने ईरानी वर्ग की भाषाओं के साथ मिलकर भारोपीय भाषा-परिवार की आर्यशाखा

प्रतिष्ठित की थी। इन भाषाओं के साथ लगा 'आर्य' शब्द परिष्कृत रुचि के लोगों का द्योतक था जोकि इन भाषाओं के साहित्य में व्याप्त संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते थे और इस प्रकार यह एक सुविधाजनक शब्द बन गया था जोकि भारोपीय परिवार की इस उपशाखा को बताता था। इस परिवार के अन्य सदस्य हैं :

(१) हिट्टाइट (खत्ती), (२) तोखारी, (३) ग्रीक, (४) लेटिन और केल्टिक या इटलोकेल्टिक, (५) जर्मनिक, (६) वाल्तोस्लावी, (७) अलबानी और (८) आरमीनी। इस व्यापक सन्दर्भ वाले आर्य परिवार की दो शाखाएं हैं—ईरानी और भारतीय। आर्य परिवार की भारतीय शाखा के लिए भारतीय शब्द बहुत व्यापक है, क्योंकि यह सिद्ध हो चुका है कि भारत में अन्य परिवार की भी भाषाएं हैं जिनका भारोपीय भाषा-व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं है जैसे द्रविड़, मुंडा और कोल भाषाएं। इसलिए नया शब्द 'भारतीय आर्य' आर्य परिवार की भारतीय शाखा के लिए प्रयुक्त हुआ जोकि स्वयं व्यापक भारोपीय परिवार-व्यवस्था की एक शाखा है। और आज तो यह शब्द जर्मनी में भी प्रयुक्त किया जाने लगा है जहां वैदिक और लौकिक संस्कृति को प्राचीन भारतीय भाषा कहने का प्रचलन था।

यह नया शब्द भारतीय आर्यकुल हमारे काम के लिए पर्याप्त है और उन सब शर्तों को जो तकनीकी शब्दों के लिए आवश्यक होती है, पूरा करता है। यह उस भाषा-प्रवाह का प्रतिनिधित्व करता है जोकि भारत में ईसापूर्व द्वितीय सहस्त्राब्दी के आरम्भ या आरम्भिक मध्य में आक्रामक आर्यों द्वारा लाया गया था। इस परिवार ने अपनी व्यक्तिगत विशेषताएं विकसित कीं, जिन्होंने भारत-ईरानी परिवार से इसे भिन्न बना दिया और यह बिल्कुल व्यावहारिक है कि इसके विकास को प्राचीन, मध्य और आधुनिक इन तीन उप-विभागों में रखा जाए।

भारत आर्य भाषा-परिवार के पुराने रूप का प्रतिनिधित्व जिस भाषा के द्वारा हुआ है, वह है ऋग्वेद से आरम्भ होने वाली वैदिक ग्रन्थों की भाषा तथा क्लासिक संस्कृत जिसकी सीमा का निर्धारण पाणिनि और पतंजलि ने किया तथा जिसका प्रयोग कालिदास तथा कुछ दूसरों से लेकर आज तक किया जाता रहा। और असली बोलचाल की भाषा का जो प्रतिनिधित्व करती हैं, वे हैं पाणिनि के समय तक वैदिक आर्यों में तथा उनके बाद पर्याप्त समय तक शिष्टों में प्रचलित बोलियाँ। इस प्रकार पुराने भारत आर्य भाषा-परिवार में वैदिक तथा लौकिक संस्कृत दोनों ही आती हैं।

मध्य भारत आर्य भाषा-परिवार कही जाने वाली इसकी दूसरी अवस्था

का आरम्भ ईसा पूर्व छठी शती से होता है। इसमें प्राकृत के व्यापकतम अर्थ के आधार पर उसकी सीमा में आने वाली सभी प्राकृत भाषाएं ली जाती हैं। यह अवस्था ईसा की ग्यारहवीं शती तक चलती रही, उसके बाद आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का आविर्भाव होता है और वे ही आज प्रचलित हैं।

पिछले अनुच्छेद में जिस कालावधि की ओर संकेत हुआ है, वह मात्र मोटे तौर पर किया गया अनुमान है, क्योंकि भारतीय आर्य भाषाओं के अध्ययन-क्षेत्र में, (कुछ अपवादों को छोड़कर) ईसवी ग्यारहवीं शती के पूर्वकाल की कोई निश्चित तिथि नहीं दी जा सकती। भारतीय आर्य भाषाओं का इतिहास कुछ व्यवधानों के बावजूद ३५०० वर्षों से अधिक समय तक लगातार चलता रहा। भाषा-प्रवाह की ऐसी अटूट शृंखला जिसे अति पुरातन काल से आज तक जन-साहित्य में प्रतिनिधित्व मिला है, अन्यत्र कहीं कहीं देखी जा सकती। इस अर्थ में भारतीय आर्य भाषा परिवार विश्व के किसी भाषा वर्ग के इतिहास में बेजोड़ ठहरता है। इस प्रकार भारोपीय क्षेत्र में इसकी केन्द्रीय स्थिति इस कारण और बढ़ जाती है कि भारत के उपमहाद्वीप में इसका अपना एक सतत इतिहास है, यद्यपि इसे अनेक परिवर्तनों के दौर से गुज़रना पड़ा है। इस लम्बे इतिहास में संस्कृत के अलावा जो अब भी एक जीवित शक्ति बनी है, यदि सांस्कृतिक दृष्टि से देखा जाए तो मध्यकालीन आर्य भाषाओं की सीमा में आने वाली प्राकृत भाषाओं का बहुत व्यापक महत्त्व है, क्योंकि बुद्ध और महावीर के द्वारा संस्कृत के स्थान पर इनके प्रयोग की छूट मिल जाने के कारण मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं ने सांस्कृतिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठा-पद धारण कर लिया और उसके बाद लगभग सत्रह या अठारह शतियों तक मौखिक साहित्यिक एवं धार्मिक सम्पर्क की भाषा बनी रहीं और एक आकलनीय शक्ति समझी जाती रहीं।

विशुद्ध काल-व्यापिता की दृष्टि से भी देखा जाए तो मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं और बोलियों का विनियोग प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक व्यापक है, यद्यपि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की प्रतिनिधिभूत संस्कृत इन तीन सहस्राब्दियों के दौरान अपने आधिपत्य को पूरी तौर से छोड़ नहीं पाई थी और लोगों के धार्मिक भेद की अपेक्षा किए बिना समूचे भारतवर्ष को सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बांधे रही। भारत के इतिहास में ऐसा भी समय आता रहा है जबकि मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं ने इसे ग्रस्त कर लिया था जिसका प्रथम उदाहरण अशोक के प्रसिद्ध शिलालेखों में देखने को मिलता है। ये प्राकृत शिलालेख और प्राकृत में टंकित सिक्के लगभग आठ शताब्दियों तक चलते रहे और इस अवधि के उत्तरार्ध में सम्पर्क-

भाषा और सांस्कृतिक भाषा इन दोनों स्तरों पर संस्कृत से होड़ लेते रहे। इसी प्रकार पालि, अर्ध-मागधी जैसी महान् धार्मिक प्राकृतों में व्यापक साहित्य निर्मित होता रहा, जिसमें उन दिनों के लोगों की सामान्य सांस्कृतिक उपलब्धियों की अभिव्यक्ति की जाती रही। ये लोक-भाषाएँ भारत के सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक इतिहास की दृष्टि से प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक महत्त्व की हैं। दूसरे शब्दों में विशाल और सतत प्रवहमान शाश्वत संस्कृत साहित्य की अपेक्षा इन भाषाओं से कहीं अधिक ऐतिहासिक सामग्री एकत्रित की जा सकती है। हमारे लिए यहां यह आवश्यक है कि हम इस बात को महसूस करें कि संस्कृत मुख्यतः व्याकरण-संप्रदायों द्वारा बनाई गई एक मानकीकृत भाषा है जो साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बन कर प्रातिशाख्य के समय से अगणित वैयाकरणों की सक्रियता से परिष्कृत होती हुई पाणिनि और पतंजलि के युग में उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ अष्टाध्यायी एवं महाभाष्य के इस्पाती ढांचे में सुरक्षित रह कर अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गई थी। लेकिन जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि संस्कृत बहुसंख्यक प्राचीन भारतीय बोलियों से मानव रूप में परिनिष्ठित और परिष्कृत हुई है, ये बोलियां ऋग्वेद काल में भी प्रचलित थीं और संस्कृत के साथ-साथ पाणिनि और पतंजलि के युग में और उसके बाद भी शताब्दियों तक बनी रहीं। यह स्थिति तबतक चलती रही जबतक कि भाषित माध्यम के रूप में प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं के स्थायित्व को मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं ने अंततः परिवर्तित न कर दिया और उनका स्थान ग्रहण करने के लिए आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के मार्ग को सरल न बना दिया। उक्त भाषाओं से सम्बद्ध प्रपंचों के पूरे विस्तार में जाना मेरे वर्तमान ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं है। लेकिन जब हम मध्यकालीन भारतीय भाषाओं और बोलियों का परिचय प्राप्त करते हैं तो हमारे लिए यह भी नितान्त आवश्यक हो जाता है कि हम प्राचीन भारतीय भाषाओं की अवस्था का सही चित्र जानलें। विशेषज्ञेतर जनों के बीच का यह सामान्य विचार कि उनकी जानी-पहचानी संस्कृत ही समस्त प्राचीन भारतीय भाषा है, प्रतीति-योग्य हो सकता है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि पाणिनि और पतंजलि ने भी जहां-कहीं इन प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं या विशिष्ट क्षेत्र में प्रचलित उनके विशिष्ट रूपों और अर्थों का उल्लेख किया है, उन्हें, समस्त आर्यावर्त में परिष्कृत संस्कृत के स्वीकृत सामान्य ढांचे के अन्तर्गत नहीं माना है। इन बोलियों का अब तक अधिगत व्यापक ज्ञान प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं की सामग्री के समीक्षात्मक अध्ययन से बढ़ाया जा सकता है। लेकिन प्राचीन भारतीय आर्य ग्रन्थों में उपभाषाओं से

सम्बद्ध प्रवृत्तियों को छुटपुट लक्षित कर पाना मात्र सम्भव है जबकि मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं की सहायता के बिना आगे इस ज्ञान में विकास सम्भव नहीं है।

वर्तमान ग्रन्थ का उद्देश्य प्रमुख सांस्कृतिक भाषा संस्कृत और प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं के सन्दर्भ में मध्यकालीन भारतीय आर्य बोलियों का उनके समूचे विस्तार में अध्ययन तथा लगभग अठ्ठारह शताब्दियों की अवधि के दौरान देश की सामान्य संस्कृति के निर्माण में उनकी देन का मूल्यांकन है।

यह स्पष्ट है कि चाहे तुरत पहले वाली या तुरत बाद वाली सीढ़ी जिस किसी से सम्बन्ध क्यों न हो, परिवार के सदस्यों पर एक दूसरे का प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार की स्थिति भाषाओं के परिवार की होती है, क्योंकि उन दोनों आसन्न अवस्थाओं के बीच पारस्परिक संघातक्रिया होती रहती है, जैसाकि सामान्य जीवन की स्थितियों में होता है। इस प्रकार हमारे अध्ययन का एक पहलू यह है कि उनके सही वंशानुगत सम्बन्ध के विस्तार में बिना गए हुए (क्योंकि इतने विस्तार में जाना विशेषज्ञों का काम है) हम यह देखें कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा और मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के बीच कैसा सम्बन्ध बना रहा है।

प्राकृत शब्द के सम्बन्ध में हमारे सामान्य नियम निर्धारण के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि हमें उन कई भाषाओं और बोलियों पर विचार करना है जिन्हें प्राचीन वैयाकरण मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के हमारे अध्ययन को यथा सम्भव व्यापक बनाने के लिए अपने विषय-क्षेत्र में समाहित न कर पाए थे। इसलिए हम मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं की समस्त भाषा-सामग्री को कई श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—वह भी आवश्यक रूप से प्राचीन, मध्य और आधुनिक प्राकृत जैसी कालिक श्रेणियों में नहीं, बल्कि साहित्य के उन प्रकारों के अनुसार जिनमें सम्बद्ध बोलियां उपलब्ध होती हैं। इस सम्बन्ध में लेखक की निम्न योजना है।

(१) धार्मिक प्राकृत : इस वर्ग में जिन प्राकृतों को रखा गया है, वे हैं दक्षिणी बौद्ध सम्प्रदायों के ग्रन्थों की तथा उनसे सम्बद्ध सम्प्रदाय-ग्रन्थों की भाषा पालि, प्राचीनतम जैन सूत्रों की भाषा अर्धमागधी जिसे आर्ष भी कहते हैं तथा महाराष्ट्री एवं शौरसेनी तथा जैन-वाङ्मय के अपभ्रंश भाषा रूप जो जैन साहित्य की व्यापक शाखा बनाने वाले वर्णनात्मक साहित्य में उपलब्ध होते हैं।

(२) साहित्यिक प्राकृत : अपने अनेक उपभेदों के साथ इस वर्ग की भाषाएं हैं महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, और अपभ्रंश।

(३) नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत : इसमें आती हैं महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और उनकी अनेक विधाएँ, अश्वघोष के नाटकों में प्राप्त प्राचीन अर्ध-मागधी और ढक्की या टक्की जैसी उप-बोलियाँ।

(४) वैयाकरणों द्वारा वर्णित प्राकृत भाषाएं : इस वर्ग में संस्कृत नाटकों और मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं की पाँच या छह बोलियाँ जैसे महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश तथा उनकी कुछ और बोलियाँ। इस श्रेणी के अन्तर्गत नाट्यशास्त्र या गीतालंकार या रुद्रट के काव्यालंकार पर नमिसाधु की टीका जैसे काव्यशास्त्रीय एवं संगीत ग्रन्थों में वर्णित प्राकृतें भी परिगणित होती हैं।

(५) भारत बहिःस्थ प्राकृत : खोतानी प्राकृत धम्मपद की भाषा, खरोष्ठी लिपि में लिखे गए जिसके अंश खोतान में पाए जाते हैं तथा मध्य एशिया के दस्तावेजों में प्राप्त भाषा जिसे निया और खोतानी प्राकृत कहते हैं, इस वर्ग में आती हैं।

(६) अभिलेखीय प्राकृत : अशोक के समय से लेकर ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपि में लिखी गई ये प्राकृत भाषाएँ समस्त भारत और श्रीलंका के भागों में मिलती हैं। इनमें ताम्रपत्र, अनुदान-लेख और सिक्का लेख भी सम्मिलित हैं और इस तरह ये पाषाण और धातु के अभिलेखों के समस्त क्षेत्र में व्याप्त हैं।

(७) लोक-प्रचलित संस्कृत : हिन्दुओं, बौद्धों और जैनों द्वारा प्रयुक्त क्रमशः इसके तीन रूप हैं। वैयाकरणों की लम्बी पीढ़ी द्वारा निर्मित इस्पाती ढांचे में प्राचीन भारतीय भाषा के स्थिर हो जाने पर ये भारतीय आर्य भाषाओं के भाषित रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। क्योंकि इस लोक-प्रचलित वाङ्मय में उन प्रयोगों के साक्ष्य उपलब्ध होते हैं जो क्लासिक श्रेणी की परिष्कृत संस्कृत में ठीक नहीं समझे जाते थे।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी से ग्यारहवीं ईसवीं शती तक के सांस्कृतिक भारत के चित्र को बनाए रखने के लिए वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य के अतिरिक्त स्रोत के रूप में मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा के इस वृहद् विस्तार को ध्यान में रखना आवश्यक है।

२

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के साहित्य का सर्वेक्षण

१. धार्मिक प्राकृत

(क) मूलतः पालि का अर्थ है पंक्ति, परिधि या सीमा। बाद में मूल-ग्रन्थ पवित्र ग्रन्थ या धर्म-ग्रन्थ की पंक्ति के रूप में उसके अर्थ का विस्तार हुआ, परन्तु पवित्र ग्रन्थ की टीकाएं उसकी सीमा में नहीं आती हैं। यह शब्द उस भाषा को सूचित करता है जिसमें तिपिटक या श्रीलंका, बर्मा और स्याम के बौद्धों की पवित्र संहिताएं निर्मित हुई हैं। बौद्ध धर्म के उत्तरी सम्प्रदाय महायान से भिन्न बताने के लिए उक्त धर्म के इस सम्प्रदाय को हीनयान नाम दिया गया। इन धर्म-वैधानिक रचनाओं के अतिरिक्त इस भाषा में अट्ठकथा नाम से ज्ञात विशाल टीका-साहित्य और अनेक काव्य-ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

समस्त शिष्ट भाषाओं के समान जो हमें अपने अत्युच्च शैली-रूपों के साहित्य के साथ सुलभ हैं, पालि स्पष्ट रूपों वाली एकरस भाषा नहीं है; प्रत्युत इस पर अपने विकास की विभिन्न अवस्थाओं में वर्तमान बहुसंख्यक मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं और बोलियों का प्रभाव परिलक्षित होता है, यद्यपि यह अपने भाषागत लक्षणों में ~~मध्यकालीन~~ भारतीय भाषाओं की सर्वप्रथम प्रतिनिधि ठहरती है। पालि की समग्र प्रकृति की तुलना वैदिक संस्कृत से लेकर लौकिक संस्कृत तक की प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं की विशेषताओं

के साथ की जा सकती है और उसके विकास की अनेक अवस्थाओं को इनसे पृथक् भी किया जा सकता है।

१. पालि की सर्व प्रथम अवस्था छन्दोबद्ध गाथाओं में देखी जा सकती है जोकि पालि की धर्मसंहिताओं में गद्य-भागों के साथ अनुस्यूत रूप में बिखरी पड़ी है।

२. इसके बाद साम्प्रदायिक वाङ्मय के गद्य भागों की भाषा आती है और यद्यपि वह पुरातन है, फिर भी यदि गाथा-छन्दों से उसकी तुलना की जाए तो उसमें आधुनिकीकरण में लक्षण दीखते हैं।

३. तीसरे स्थान पर आती हैं गद्य में लिखी आरम्भ की सम्प्रदायेतर रचनाएं, जैसे मिलिन्द पञ्हो और टीकाओं की गद्यात्मक भाषा।

४. चौथी अवस्था है उत्तर कालीन काव्य-ग्रन्थों की भाषा की जोकि संस्कृत साहित्य के लिए बनाए गए निदर्शों के अनुरूप चलती है।

पालि साहित्य जो तिपिटक (तीन मंजूषाएं) शीर्षक के अंतर्गत आज उपलब्ध है, विनय पिटक, सुत्त पिटक और अभिधम्म पिटक इन तीन पिटकों में विभक्त हैं जोकि क्रमशः बौद्ध धर्म के अनुशासन, धर्म के विषय या धार्मिक सिद्धान्त एवं सिद्धान्तों की ऊंची बारीकियों से सम्बन्ध रखते हैं। विनय पिटक में (१) महा विभंग और भिक्खुनी विभंग में विभक्त सुत्त-विभंग, (२) महा-वग्ग और चुल्लवग्ग विभागों वाला खन्धक और (३) परिवार सम्मिलित हैं। सुत्त पिटक अपने में पाँच निकायों—संग्रहों को समेटे हुए है। वे हैं (१) दीघ निकाय, (२) मज्झिम निकाय, (३) संजुत्त निकाय, (४) अंगुत्तर निकाय और (५) खुद्दक निकाय। इनमें अंतिम नानाविध लघुग्रन्थों का फुटकर संग्रह है: १. खुद्दक पाठ, २. धम्मपद, ३. उदान, ४. इतिवुत्तक, ५. सुत्तनिपात, ६. विमान-वत्थु ७. पेतवत्थु, ८. थेरगाथा, ९. थेरीगाथा, १०. जातक, ११. निद्देश, १२. परिसंभिदामग्ग, १३. अपदान, १४. बुद्धवंश और १५. चरिया-पिटक। अभिधम्म पिटक में सात कृतियां आती हैं: १. धम्मसंगणि, २. विभंग, ३. कथावत्थु, ४. पुग्गल पञ्ञत्ति, ५. धातुकथा, ६. यमक और ७. महापट्ठान।

लगभग पाँचवी ईसवी शती तक साम्प्रदायिक साहित्य के आधार को लेकर निर्मित प्राचीनतम सम्प्रदायेतर पालि साहित्य में अनेकों कृतियां आती हैं जैसे नेत्ति पकरण, पेटकोपदेश, सुत्त संगह आदि जिनमें स्वभावतः मिलिन्द पञ्हो सर्वश्रेष्ठ है। इसी श्रेणी में दीपवंश भी आता है। इस काल के बाद टीका युग का आरम्भ होता है जबकि तिपिटक पर वृहत् टीकाएं निर्मित हुईं। इनमें से अनेक बुद्धघोष द्वारा रचित मानी जाती हैं। जातकट्ठकथा इस श्रेणी की सर्वाधिक ख्यात कृतियों में से एक है जोकि जातक पद्यों पर

एक प्रकार की व्याख्यानात्मक टीका है जिनमें बुद्ध के पूर्वजन्म से सम्बद्ध ५४७ कथाएं ग्रथित हैं। इसी प्रकार धम्मपदट्ठकथा जो जातक संग्रहों के कुछ बाद का है, अपने कथा-अभिप्राय के लिए सर्वविदित है। इसके महान् टीकाकारों में बुद्धदत्त, आनन्द और धम्मपाल उल्लेखनीय हैं। बौद्धधर्म के इतिहास के लिए इतिवृत्त साहित्य भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण है जिसका अत्युत्कृष्ट उदाहरण महावंस है। उपर्युक्त समस्त साहित्य पाँचवीं और ग्यारहवीं ईसवी शती के बीच निर्मित हुआ था। कच्चायन का प्रथम पालि व्याकरण भी इसी युग की रचना है।

लगभग बारहवीं ईसवी शती से विवरणात्मक साहित्य की कालावधि प्रारम्भ होती है जिसमें टीकाएं तथा धम्मकित्ति की दाठावंस तथा बुद्धप्रिय की पज्जामधु जैसी उत्तरवर्ती रचनाएं आती हैं। व्याकरणविषयक जागरूकता भी पर्याप्त देखने को मिलती है तथा शैली भी अलंकृत होने लगती है जिसमें भाषा के निरूढ़ रूप और लौकिक संस्कृत के लिए स्थिर किए गए मानकों का दासवत् अनुकरण बहुत कुछ देखने में आता है। व्याकरण के अतिरिक्त मोग्गलान की अभिधानप्पदीपिका में कोश-रचना और संघरक्खित के सबोधालंकार में अलंकार-शास्त्र का दिग्दर्शन होता है।

पालि-साहित्य की प्राचीनता के सम्बन्ध में मतभेद दीखता है। यद्यपि पालि वाङ्मय में सुरक्षित परम्पराओं का सारभाग स्वयं बुद्ध के काल तक पहुँचता है, फिर भी तत्तद् भागों का पूरे निश्चय के साथ प्रकाश में लाया जा सकना संभव नहीं है। तीनों बौद्ध संगीतियों के परम्परागत विवरणों को उतने पूर्वकाल में समस्त बौद्ध संहिता के अस्तित्व के साक्ष्य में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। लेकिन युक्ति पूर्वक यह स्वीकार किया जा सकता है कि उक्त संहिता का कुछ भाग ईसा पूर्व तीसरी शती में अशोक के काल में जबकि स्थविर तिस्स की अध्यक्षता में तीसरी संगीति का होना माना जाता है, अस्तित्व में आचुका था। लेकिन इस आरम्भिक संहिता की भाषा वही पालि नहीं हो सकती जोकि आज हमारे सामने है। अशोक के तुरन्त बाद मौर्य-साम्राज्य के समस्त क्षेत्र में बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ-साथ बुद्ध की शिक्षाएं विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में फैलीं और जब बौद्धों की नियम-संहिता समान परम्परा बनकर सामने आयी, पालि निश्चित रूप से विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं से प्रभावित हो चुकी थी और उसने पूर्ण साहित्यिक माध्यम का रूप धारण कर लिया था। संहिता का स्तरों में विभाजन भी संहिता के विविध विभागों की भाषाओं में प्राप्त भिन्नताओं के आधार पर प्रमाणित किया जा सकता है।

अशोक के अभिलेखों (विशेषतः बैराट और भाब्रू) के साक्ष्य के आधार पर यह माना जाता है, २४९ ईसा पूर्व तक पालि तिपिटक के विनय और सुत्त-विभाग अस्तित्व में आ चुके थे। सात महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के उल्लेख के अतिरिक्त अशोक उल्लेख करते हैं "वह सब जो कुछ बुद्ध ने कहा है, ठीक ही कहा है।" उसी प्रकार भरहुत और सांची के प्रसिद्ध स्तूपों के अभिलेख भी समान निष्कर्ष की ओर संकेत करते हैं तथा इन स्तूपों की बुद्ध के जीवन के निरूपक उद्भृत शिल्पों से परिपूर्ण वेदिकाएं और मुख्यद्वार पूर्ण विकसित बुद्ध-आख्यान का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। भरहुत स्तूप की कहानियों और विवरणों के निदर्शक अनेक उद्भृत शिल्पपट्टिकाओं पर अनेक शीर्षक उत्कीर्ण हैं। ये लघु-अभिलेख इस बात को प्रमाणित करते हैं कि इन उद्भृतों में जातकों का चित्र प्रस्तुत है। इतना ही नहीं इनमें से अनेक शीर्षक तिपिटक के जातक ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त भरहुत और सांची दोनों में प्राप्त संकलिपत लेख भिक्षुओं को भाणक—विवरण देने वाला सुतंतिक "सूत्र पाठ करने वाला", पिटकों का ज्ञाता "और धम्मकथिक—धर्म प्रचारक" बताते हैं। यह समस्त साक्ष्य स्पष्ट रूप से सूचित करता है कि ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से पहले पिटक कहे जाने वाले बौद्ध धर्म-ग्रन्थों का संग्रह पाँचों निकायों और सूत्रों से उपेत रूप में अस्तित्व में आचुका था। "मिलिन्द पञ्हो" जिसके प्रामाणिक भाग की प्रथम शती ईसवी के प्रथम भाग में होने की संभावना है, इस काल में तिपिटक के होने का पूर्ण साक्ष्य प्रस्तुत करता है। उसी प्रकार बौद्ध संस्कृत साहित्य भी पालि-परम्पराओं की प्राचीनता प्रमाणित करता है। पालि ग्रन्थ प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के ज्ञान के स्रोत एव विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से हीनयान और महायान दोनों संप्रदायों की सभी अन्य कृतियों से श्रेष्ठ ठहरते हैं।

हम इसलिए यह मान सकते हैं कि साहित्यिक एवं धार्मिक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में पालि ईसा पूर्व तीसरी शती से ईसा के बाद लगभग ग्यारहवीं शती के लम्बे अरसे तक चलती रही और उसके बाद वह भी संस्कृत की तरह केवल विद्वानों तक सीमित रह गई। अट्ठकथा जैसी वृहत् टीकाओं के काल में तो वह बहुत कुछ रूढिबद्ध हो गई थी, फिर भी उसकी अपनी सरलता बनी रही जोकि परवर्ती लेखकों के लिए आदर्श बने संस्कृत साहित्य के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण बाद की कृतियों में नहीं पाई जाती।

पालि तिपिटक का मूल आज हमारे लिए सिंहली, बर्मी और स्यामी इन तीन विभिन्न भाषाओं में लिखी गई पाण्डुलिपियों में सुरक्षित है। इन उक्त तीन लिपियों में मुद्रित संस्करणों के अतिरिक्त इंग्लैंड की पालि टेक्स्ट सोसायटी ने टीकाओं के साथ समस्त पालि ग्रन्थों को रोमन लिप्यन्तर में प्रकाशित कर

एक प्रकार की व्याख्यानात्मक टीका है जिनमें बुद्ध के पूर्वजन्म से सम्बद्ध ५४७ कथाएं ग्रथित हैं। इसी प्रकार धम्मपदट्ठकथा जो जातक संग्रहों के कुछ बाद का है, अपने कथा-अभिप्राय के लिए सर्वविदित है। इसके महान् टीकाकारों में बुद्धदत्त, आनन्द और धम्मपाल उल्लेखनीय हैं। बौद्धधर्म के इतिहास के लिए इतिवृत्त साहित्य भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण है जिसका अत्युत्कृष्ट उदाहरण महावंस है। उपर्युक्त समस्त साहित्य पाँचवीं और ग्यारहवीं ईसवी शती के बीच निर्मित हुआ था। कच्चायन का प्रथम पालि व्याकरण भी इसी युग की रचना है।

लगभग बारहवीं ईसवी शती से विवरणात्मक साहित्य की कालावधि प्रारम्भ होती है जिसमें टीकाएं तथा धम्मकित्ति की दाठावंस तथा बुद्धप्रिय की पज्जामधु जैसी उत्तरवर्ती रचनाएं आती हैं। व्याकरणविषयक जागरूकता भी पर्याप्त देखने को मिलती है तथा शैली भी अलंकृत होने लगती है जिसमें भाषा के निरूढ़ रूप और लौकिक संस्कृत के लिए स्थिर किए गए मानकों का दासवत् अनुकरण बहुत कुछ देखने में आता है। व्याकरण के अतिरिक्त मोग्गलान की अभिधानप्पदीपिका में कोश-रचना और संघरक्खित के सबोधालंकार में अलंकार-शास्त्र का दिग्दर्शन होता है।

पालि-साहित्य की प्राचीनता के सम्बन्ध में मतभेद दीखता है। यद्यपि पालि वाङ्मय में सुरक्षित परम्पराओं का सारभाग स्वयं बुद्ध के काल तक पहुँचता है, फिर भी तत्तद् भागों का पूरे निश्चय के साथ प्रकाश में लाया जा सकना संभव नहीं है। तीनों बौद्ध संगीतियों के परम्परागत विवरणों को उतने पूर्वकाल में समस्त बौद्ध संहिता के अस्तित्व के साक्ष्य में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। लेकिन युक्ति पूर्वक यह स्वीकार किया जा सकता है कि उक्त संहिता का कुछ भाग ईसा पूर्व तीसरी शती में अशोक के काल में जबकि स्थविर तिस्स की अध्यक्षता में तीसरी संगीति का होना माना जाता है, अस्तित्व में आचुका था। लेकिन इस आरम्भिक संहिता की भाषा वही पालि नहीं हो सकती जोकि आज हमारे सामने है। अशोक के तुरन्त बाद मौर्य-साम्राज्य के समस्त क्षेत्र में बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ-साथ बुद्ध की शिक्षाएं विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में फैलीं और जब बौद्धों की नियम-संहिता समान परम्परा बनकर सामने आयी, पालि निश्चित रूप से विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं से प्रभावित हो चुकी थी और उसने पूर्ण साहित्यिक माध्यम का रूप धारण कर लिया था। संहिता का स्तरों में विभाजन भी संहिता के विविध विभागों की भाषाओं में प्राप्त भिन्नताओं के आधार पर प्रमाणित किया जा सकता है।

अशोक के अभिलेखों (विशेषत: वैराट और भाब्रू) के साक्ष्य के आधार पर यह माना जाता है, २४९ ईसा पूर्व तक पालि तिपिटक के विनय और सुत्त-विभाग अस्तित्व में आ चुके थे। सात महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के उल्लेख के अतिरिक्त अशोक उल्लेख करते हैं "वह सब जो कुछ बुद्ध ने कहा है, ठीक ही कहा है।" उसी प्रकार भरहुत और सांची के प्रसिद्ध स्तूपों के अभिलेख भी समान निष्कर्ष की ओर संकेत करते हैं तथा इन स्तूपों की बुद्ध के जीवन के निरूपक उद्भृत शिल्पों से परिपूर्ण वेदिकाएं और मुख्यद्वार पूर्ण विकसित बुद्ध-आख्यान का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। भरहुत स्तूप की कहानियों और विवरणों के निदर्शक अनेक उद्भृत शिल्पपट्टिकाओं पर अनेक शीर्षक उत्कीर्ण हैं। ये लघु-अभिलेख इस बात को प्रमाणित करते हैं कि इन उद्भृतों में जातकों का चित्र प्रस्तुत है। इतना ही नहीं इनमें से अनेक शीर्षक तिपिटक के जातक ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त भरहुत और सांची दोनों में प्राप्त संकल्पित लेख भिक्षुओं को भाणक—विवरण देने वाला सुतंतिक "सूत्र पाठ करने वाला", पिटकों का ज्ञाता "और धम्मकथिक—धर्म प्रचारक" बताते हैं। यह समस्त साक्ष्य स्पष्ट रूप से सूचित करता है कि ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से पहले पिटक कहे जाने वाले बौद्ध धर्म-ग्रन्थों का संग्रह पाँचों निकायों और सूत्रों से उपेत रूप में अस्तित्व में आचुका था। "मिलिन्द पञ्हो" जिसके प्रामाणिक भाग की प्रथम शती ईसवी के प्रथम भाग में होने की संभावना है, इस काल में तिपिटक के होने का पूर्ण साक्ष्य प्रस्तुत करता है। उसी प्रकार बौद्ध संस्कृत साहित्य भी पालि-परम्पराओं की प्राचीनता प्रमाणित करता है। पालि ग्रन्थ प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के ज्ञान के स्रोत एवं विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से हीनयान और महायान दोनों संप्रदायों की सभी अन्य कृतियों से श्रेष्ठ ठहरते हैं।

हम इसलिए यह मान सकते हैं कि साहित्यिक एवं धार्मिक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में पालि ईसा पूर्व तीसरी शती से ईसा के बाद लगभग ग्यारहवीं शती के लम्बे अरसे तक चलती रही और उसके बाद वह भी संस्कृत की तरह केवल विद्वानों तक सीमित रह गई। अट्ठकथा जैसी वृहत् टीकाओं के काल में तो वह बहुत कुछ रूढिबद्ध हो गई थी, फिर भी उसकी अपनी सरलता बनी रही जोकि परवर्ती लेखकों के लिए आदर्श बने संस्कृत साहित्य के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण बाद की कृतियों में नहीं पाई जाती।

पालि तिपिटक का मूल आज हमारे लिए सिंहली, बर्मी और स्यामी इन तीन विभिन्न भाषाओं में लिखी गई पाण्डुलिपियों में सुरक्षित है। इन उक्त तीन लिपियों में मुद्रित संस्करणों के अतिरिक्त इंग्लैंड की पालि टैक्स्ट सोसायटी ने टीकाओं के साथ समस्त पालि ग्रन्थों को रोमन लिप्यन्तर में प्रकाशित कर

दिया है। भारतीय बौद्ध विद्वानों के श्रम से ये ग्रन्थ धीरे-धीरे सुन्दर देवनागरी में मुद्रित हो उपलब्ध हो रहे हैं। इन आखिरी प्रयत्नों के साथ ही बुद्ध धर्म के मूलगृह भारत में पालि के अध्ययन का नया युग आरम्भ हो रहा है, इसका क्या परिणाम होगा, यह भविष्य बतलाएगा।

(ख) अर्धमागधी उस भाषा का नाम है, जिसमें प्राचीनतम जैन सूत्र—श्वेताम्बरों की संहिता रची गई है। वस्तुस्थिति यह है कि अर्धमागधी भाषा का अद्धमागही भाषा शब्द उक्त संहिता में ही उस भाषा के लिए प्रयुक्त मिलता है, जिसमें महावीर अपना धार्मिक प्रवचन किया करते थे। संस्कृत में इस भाषा के लिए आर्ष नाम प्रयुक्त हुआ है क्योंकि संस्कृत में लिखित व्याकरणों में यह भाषा इसी रूप में वर्णित हुई है। पालि की विशेषता यह है कि संस्कृत की तरह उसके भी अपने व्याकरण-ग्रन्थ उसी भाषा में लिखे मिलते हैं। अर्ध-मागधी उन अन्य साहित्यिक प्राकृतों की श्रेणी में आती है जिनका व्याकरण संस्कृत ग्रन्थों में वर्णित है। लेकिन बिल्कुल उसी तरह जैसेकि संस्कृत देव भाषा मानी जाती है, अर्ध-मागधी या आर्ष भी देवताओं की भाषा कही जाती है।

श्वेताम्बरों की इस *अर्धमागधी-संहिता में आज निम्न मूलग्रन्थ* उपलब्ध होते हैं:—

१. बारह अंग : (१) आयार (२) सयगड (३) थान, (४) समवाय, (५) वियाह पन्नत्ति, (६) नायाधम्मकहाओ, (७) उवासगदसाओ, (८) अन्तगडदसाओ, (९) अनुत्तरोववाइयदसाओ, (१०) पण्हावागरणाइम, (११) विवागसुय और (१२) दिट्ठिवाय।

२. बारह उवंग : (१) उववाइय, (२) रायपसेणइज्ज, (३) जीवाभिगम, (४) पन्नवणा, (५) सूरपन्नत्ति, (६) जम्बूद्दीवपन्नत्ति, (७) चन्दपन्नत्ति, (८) निरयावलियाओं, (९) कप्पवडिंसियाओ, (१०) पुप्फियाओ, (११) पुप्फचूलाओ और (१२) वण्हिदसाओ।

३. दस पैण्ण : पैण्णों की इस सूची में कोई निश्चितक्रम नहीं मिलता है। वे अपनी अन्तर्वस्तु के आधार पर व्यवस्थित हैं। वे हैं : (१) चउसरण, (२) भत्त परिन्ना, (३) संथार, (४) आउरपच्चक्खाण, (५) महापच्चक्खाण, (६) चन्दाविझय, (७) गणिविज्जा, (८) तंदुलवेयालिय, (९) देविन्दत्थय और वीरत्थय।

४. छह छेयसुत्त : (१) आदारदसाओ, (२) कप्प, (३) ववहार, (४) निसीह, (५) महानिसीह और (६) पंचकप्प। अन्तिम के स्थान पर जिनभद्र ने जीयकप्प का उल्लेख किया है।

५. वैयक्तिक ग्रन्थ : नंदी और अरगुयोग दारा (इम्)

६. चार मूलसुत्त : (१) उत्तरज्झाया या उत्तरज्झायरण, (२) देसवेयालिय, (३) आवस्सयनिज्जुत्ति और (४) ओझा या पिण्ड निज्जुत्ति।

चूंकि बारहवां अंग अप्राप्य हैं और उसका उल्लेख अन्य ग्रन्थों में प्राप्त सभी प्रकार की ज्ञप्तियों ही मिलता है, अतः जैन-सम्प्रदाय में ऊपर गिनाई गई पैंतालिस कृतियां ही आती है। लेकिन वस्तुतः साम्प्रदायिक कृतियों की संख्या जोकि जैन-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर उल्लिखित मिलती है, पैंतालिस और पचास के बीच में बदलती रहती है।

इस सिद्धान्त की प्राचीनता के सम्बन्ध में श्वेताम्बर जैन स्वयं निम्न परम्परा लिपिबद्ध करते हैं। मूल-सिद्धान्त तो महावीर द्वारा अपने प्रथम शिष्यों—गणधरों या सम्प्रदायाध्यक्षों को उपदिष्ट चौदह पुव्व में निहित था। लेकिन यह ज्ञान शीघ्र नष्ट हो गया क्योंकि यह विश्वास किया जाता है कि मूल-शिष्यों में से केवल एक उसे आगे बढ़ा पाया फलतः वे पूर्व छह पीढ़ियों तक ही सुरक्षित रह सके। मगध के चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में थेर भद्रबाहु जैन समाज के प्रधान थे, और वह बारह वर्ष के अकाल के कारण अपने कुछ शिष्यों के साथ दक्षिण में जाकर बस गए। चौदह पुव्वों के ज्ञाता अन्तिम भिक्षु स्थूलभद्र मगध के जैन समाज के प्रधान बन बैठे। इस भयंकर अकाल के कारण पवित्र ग्रन्थों के विलुप्त हो जाने का खतरा था क्योंकि पुव्व के विविध अंगों के जानकार स्वयं अकाल की कठिनाइयों को झेलपाने में असमर्थ रहे। फलतः पाटलिपुत्र में एक परिषद् बुलाई गई, जिसमें ग्यारहों अंग संकलित किए गए और चौदह पुव्व के अवशेषों को ग्रथित करके दिठ्ठिवाय नाम से चौदहवें अंग को रूप दिया गया। जब भद्रबाहु के अनुयायी मगध लौटे तो उनमें और मगध के जैन-समुदाय के बीच फूट पड़ गई फलतः जैन-समाज श्वेताम्बरों और दिगम्बरों के रूप में विभक्त हो गया जिनमें से दिगम्बरों ने फिर से बनाए गए सिद्धान्तों के अधिकार और प्रामाणिकता को मानने से इन्कार कर दिया।

महावीर के निर्वाण के बाद दो शताब्दियों के भीतर ही मूलपुव्व विनष्ट हो चुके थे, फलतः चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में विद्यमान सामग्री के संशोधन की आवश्यकता हो गई। इतने शीघ्र विनाश के पीछे अभूतपूर्व प्रकार का लम्बा अकाल कारण था। इस संशोधन के बाद आने वाली शताब्दियों में संशोधित सिद्धान्तों को दुबारा फिर से विलुप्त हो जाने के खतरे का सामना करना पड़ा, परिणामस्वरूप वलभि में पाँचवी ईसवी शती के उत्तरार्ध या छठी शती के पूर्वार्ध में पवित्र ग्रन्थों को संकलित और लिपिबद्ध करने के लिए देवद्धि (संस्कृत-देवर्द्धि क्षमा श्रमण) की अध्यक्षता में दूसरी परिषद् संयोजित की गई। उस

दिया है। भारतीय बौद्ध विद्वानों के श्रम से ये ग्रन्थ धीरे-धीरे सुन्दर देवनागरी में मुद्रित हो उपलब्ध हो रहे हैं। इन आखिरी प्रयत्नों के साथ ही बुद्ध धर्म के मूलगृह भारत में पालि के अध्ययन का नया युग आरम्भ हो रहा है, इसका क्या परिणाम होगा, यह भविष्य बतलाएगा।

(ख) अर्धमागधी उस भाषा का नाम है, जिसमें प्राचीनतम जैन सूत्र—श्वेताम्बरों की संहिता रची गई है। वस्तुस्थिति यह है कि अर्धमागधी भाषा का अद्धमागही भाषा शब्द उक्त संहिता में ही उस भाषा के लिए प्रयुक्त मिलता है, जिसमें महावीर अपना धार्मिक प्रवचन किया करते थे। संस्कृत में इस भाषा के लिए आर्ष नाम प्रयुक्त हुआ है क्योंकि संस्कृत में लिखित व्याकरणों में यह भाषा इसी रूप में वर्णित हुई है। पालि की विशेषता यह है कि संस्कृत की तरह उसके भी अपने व्याकरण-ग्रन्थ उसी भाषा में लिखे मिलते हैं। अर्ध-मागधी उन अन्य साहित्यिक प्राकृतों की श्रेणी में आती है जिनका व्याकरण संस्कृत ग्रन्थों में वर्णित है। लेकिन बिल्कुल उसी तरह जैसेकि संस्कृत देव भाषा मानी जाती है, अर्ध-मागधी या आर्ष भी देवताओं की भाषा कही जाती है।

श्वेताम्बरों की इस अर्धमागधी-संहिता में आज निम्न मूलग्रन्थ उपलब्ध होते हैं:—

१. बारह अंग : (१) आयार (२) सयगड (३) थान, (४) समवाय, (५) वियाह पन्नत्ति, (६) नायाधम्मकहाओ, (७) उवासगदसाओ, (८) अन्तगडदसाओ, (९) अनुत्तरोववाइयदसाओ, (१०) पण्हावागरणाइम, (११) विवागसुय और (१२) दिठ्ठिवाय।

२. बारह अवंग : (१) उववाइय, (२) रायपसेणइज्ज, (३) जीवाभिगम, (४) पन्नवणा, (५) सूरपन्नत्ति, (६) जम्बूद्दीवपन्नत्ति, (७) चन्दपन्नत्ति, (८) निरयावलियाओं, (९) कम्पवडिंसियाओ, (१०) पुप्फिआओ, (११) पुपफचूलाओ और (१२) वण्हिदसाओ।

३. दस पैण्ण : पैण्णों की इस सूची में कोई निश्चितक्रम नहीं मिलता है। वे अपनी अन्तर्वस्तु के आधार पर व्यवस्थित हैं। वे हैं : (१) चउसरण, (२) भत्त परिन्ना, (३) संथार, (४) आउरपच्चक्खाण, (५) महापच्चक्खाण, (६) चन्दाविभय, (७) गणिविज्जा, (८) तंदुलपेयालिय, (९) देविन्दत्थय और वीरत्थय।

४. छह छेयसुत्त : (१) आदारदसाओ, (२) कप्प, (३) ववहार, (४) निसीह, (५) महानिसीह और (६) पंचकप्प। अन्तिम के स्थान पर जिनभद्र ने जीयकप्प का उल्लेख किया है।

५. वैयक्तिक ग्रन्थ : नंदी और अणुयोग दारा (इम्)

६. चार मूलसुत्त : (१) उत्तरज्झाया या उत्तरज्झायण, (२) देसवेयालिय, (३) आवस्सयनिज्जुत्ति और (४) ओझा या पिण्ड निज्जुत्ति।

चूंकि बारहवां अंग अप्राप्य हैं और उसका उल्लेख अन्य ग्रन्थों में प्राप्त सभी प्रकार की ज्ञप्तियों ही मिलता है, अतः जैन-सम्प्रदाय में ऊपर गिनाई गई पैंतालिस कृतियां ही आती है। लेकिन वस्तुतः साम्प्रदायिक कृतियों की संख्या जोकि जैन-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर उल्लिखित मिलती है, पैंतालिस और पचास के बीच में बदलती रहती है।

इस सिद्धान्त की प्राचीनता के सम्बन्ध में श्वेताम्बर जैन स्वयं निम्न परम्परा लिपिबद्ध करते हैं। मूल-सिद्धान्त तो महावीर द्वारा अपने प्रथम शिष्यों—गणधरों या सम्प्रदायाध्यक्षों को उपदिष्ट चौदह पुव्व में निहित था। लेकिन यह ज्ञान शीघ्र नष्ट हो गया क्योंकि यह विश्वास किया जाता है कि मूल-शिष्यों में से केवल एक उसे आगे बढ़ा पाया फलतः वे पूर्व छह पीढ़ियों तक ही सुरक्षित रह सके। मगध के चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में थेर भद्रबाहु जैन समाज के प्रधान थे, और वह बारह वर्ष के अकाल के कारण अपने कुछ शिष्यों के साथ दक्षिण में जाकर बस गए। चौदह पुव्वों के ज्ञाता अन्तिम भिक्षु स्थूलभद्र मगध के जैन समाज के प्रधान बन बैठे। इस भयंकर अकाल के कारण पवित्र ग्रन्थों के विलुप्त हो जाने का खतरा था क्योंकि पुव्व के विविध अंगों के जानकार स्वयं अकाल की कठिनाइयों को झेलपाने में असमर्थ रहे। फलतः पाटलिपुत्र में एक परिषद् बुलाई गई, जिसमें ग्यारहों अंग संकलित किए गए और चौदह पुव्व के अवशेषों को ग्रथित करके दिठ्ठिवाय नाम से चौदहवें अंग को रूप दिया गया। जब भद्रबाहु के अनुयायी मगध लौटे तो उनमें और मगध के जैन-समुदाय के बीच फूट पड़ गई फलतः जैन-समाज श्वेताम्बरों और दिगम्बरों के रूप में विभक्त हो गया जिनमें से दिगम्बरों ने फिर से बनाए गए सिद्धान्तों के अधिकार और प्रामाणिकता को मानने से इन्कार कर दिया।

महावीर के निर्वाण के बाद दो शताब्दियों के भीतर ही मूलपुव्व विनष्ट हो चुके थे, फलतः चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में विद्यमान सामग्री के संशोधन की आवश्यकता हो गई। इतने शीघ्र विनाश के पीछे अभूतपूर्व प्रकार का लम्बा अकाल कारण था। इस संशोधन के बाद आने वाली शताब्दियों में संशोधित सिद्धान्तों को दुबारा फिर से विलुप्त हो जाने के खतरे का सामना करना पड़ा, परिणामस्वरूप वलभि में पाँचवी ईसवी शती के उत्तरार्ध या छठी शती के पूर्वार्ध में पवित्र ग्रन्थों को संकलित और लिपिबद्ध करने के लिए देवढ्ढि (संस्कृत-देवर्द्धि क्षमा श्रमण) की अध्यक्षता में दूसरी परिषद् संयोजित की गई। उस

समय तक दिठ्ठिवाय पहले ही विलुप्त हो चुका था, फलतः अंगों की संख्या बारह से ग्यारह रह गई।

इस प्रकार श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के वर्तमान रूप की प्राचीनता को जैन-परम्परा स्वयं पाँचवी ईसवी शती से पूर्व का नहीं मानती। यद्यपि अभिनियमों का दूसरा संशोधित पाठान्तर पुराने ग्रन्थों पर आधारित माना जाता है जिनमें से कुछ का सम्बन्ध स्वयं महावीर से जोड़ा जाता है, फिर भी उनकी भाषा अधिक पुरानी नहीं कही जा सकती। अश्वघोष के नाटकों के अंशों में प्राप्त उपभाषाओं में से एक में द्वितीय ईसवी शती में प्रचलित अर्ध मागधी का पुराना रूप देखा जा सकता है जोकि संहिता की भाषा की अपेक्षा कहीं अधिक पुरातन लगता है, यह तथ्य आगे स्पष्ट होगा।

इस परम्परा के अनुसार यह माना जाता है कि धर्म-गुरु सुहम्म ने तीर्थंकर के शब्दों को अंगों और उपागों में संगृहीत किया। कुछ चतुर्थ उवंग जैसे विशेष ग्रन्थ जिनके कृतित्व का श्रेय अज्ज साम को दिया जाता है, परवर्ती लेखकों द्वारा रचित माने जाते हैं। इस प्रकार भद्रबाहु पिंड निज्जुत्ति और ओघ-निज्जुत्ति के तथा सैज्जंभव (सम्प्रदाय-परम्परा में महावीर से चतुर्थ) दसवैयालिय के लेखक माने जाते हैं जबकि नन्दी के लेखक देवद्धि स्वयं हैं। इस प्रकार यद्यपि परम्पराओं से स्वीकृत प्राचीन ग्रन्थ सुलभ थे, परन्तु उनका भाषागत मूल्य समानकालिक नहीं था। इन ग्रन्थों के अस्तित्व के सम्बन्ध में ईसा के बाद की प्रथम दो शतियों के उत्कीर्ण लेखों के कुछ साक्ष्य मिलते हैं जिनसे जैनों के श्वेताम्बर और दिगम्बर के रूप में विभक्त होने और भिक्षुओं के पवित्र ग्रन्थ के वाचक कहे जाने का पता चलता है। उद्भृत पट्टिकाओं और उत्कीर्ण लेखों से ईसवी प्रथम शती में महावीर के बारे में जानकारी अभि-प्रमाणित हो जाती है।

वलभि में धर्म संहिता के निर्धारण के पश्चात् अर्धमागधी साहित्यिक रचना का माध्यम होने से विरत हो गई परिणामतः ये साम्प्रदायिक कृतियां इस भाषा के साहित्य-विस्तार को परिसीमित करती हैं। यद्यपि इसके बाद भी जैन लम्बे अरसे तक बहु-सर्जक लेखक बने रहे पर आगे चल कर वे अपनी साहित्यिक, कृतियों के लिए कुछ अधिक विकसित माध्यम जैसे संस्कृत या परवर्ती काल की देशी भाषाओं का उपयोग करने लगे। हम इस विशेष माध्यम के विकास के काल को अश्वघोष के बाद से वलभि में अन्तिम रूप से संशोधित धर्म-संहिता के काल तक लगभग तीन शतियों में फैला हुआ अर्थात् तीसरी ईसवी शती से छठी ईसवी शती के आरम्भ तक मानते हैं।

अर्धमागधी शब्द की व्याख्या अनेक रूपों में प्रस्तुत हुई है जिनमें मुख्य

दो ये हैं : (१) वह भाषा जो मागधी की आधी प्रकृति को आत्मसात् किए हुए है और (२) जो मगध के अर्धभाग में प्रचलित है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ मानों में अकारान्त पुल्लिंग संज्ञाशब्दों के प्रथमा एकवचन में एकारान्त होने में अर्धमागधी बिल्कुल मागधी की प्रकृति को अपनाती है।

जैन धर्म संहिता की पाण्डुलिपियाँ अनेक भारतीय लिपियों में पाई जाती हैं, परन्तु देवनागरी का जैन प्रकार मुख्यतः प्रयोग में लाया जाता है। लेखन-सामग्री के रूप में कागज और तालपत्र दोनों ही उपयोग में लाए गए हैं और इनमें से कुछ पांडुलिपियाँ जहाँ तक भारतीय पांडुलिपियों का सम्बन्ध है काफ़ी प्राचीन ठहरती हैं।

पालि की तरह अर्धमागधी का गद्य और पद्य में भिन्न-भिन्न रूप पाया जाता है। पद्य भागों की भाषा गद्य भागों की भाषा की अपेक्षा कहीं पुरातन लगती है। सर्वाधिक पुरातन प्रकार 'जायारंग' में और उससे उतर कर 'सूयगडंग' और 'उत्तरज्झान' में मिलता है।

(ग) जैन महाराष्ट्री प्रधान रूप से श्वेताम्बरों की सम्प्रदायेतर कृतियों की भाषा है, जिसमें मुख्यतः कहानियों के संग्रह आते हैं। इस भाषा को यह नाम पहले हरमान जैकोबी ने दिया था जिन्होंने इनमें की कुछ कहानियों को अपने 'एरत्जैंहलुंगेन' में सम्पादित किया था। इस भाषा में स्वभावतः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'आवश्यक कहानियां हैं' जोकि कथा के अभिप्रायों में अत्यन्त समृद्ध हैं। यह भाषा अपने विशुद्ध रूप में विमल सूरि (तृतीय ईसवी शती)—कृत पउमचरिय में मिलती है। इस भाषा का प्राचीन रूप चूर्णी, कथानक और संघदास के 'वसुदेवहिण्डि' में मिलता है। निज्जुत्ति आर्याछन्दों में इस भाषा में बहुत ही संक्षिप्त व्याख्याएं प्रस्तुत करते है। जैकोबी का 'एरत्जैंहलुंगेन' अधिकतर उत्तरज्झान की देवेन्द्रकृत टीका पर निर्भर है। जिनभद्र सूरि का तीर्थकल्प जोकि ईसवी सन् १३२६-१३३१ के बीच में रचित एक बहुत बाद की अर्ध ऐतिहासिक कृति है, अंशतः इसी भाषा में लिखी गई है। हरिभद्र ने (आठवीं ईसवी शती) अपनी प्रसिद्ध 'समराइच्च कहा' के पद्य भाग में इसी माध्यम को अपनाया है, परन्तु उसका गद्य भाग शौरसेनी की कुछ विशेषताओं से मिश्रित है। धर्मदास की 'उवएस माला' की भाषा जैन महाराष्ट्री के उत्तरवर्ती रूप से मेल खाती है और कम से कम यह प्रमाणित कर देती है कि लेखक के महावीर के समसायपिक होने की परम्परा तथ्यों पर आधारित नहीं है तथा नवीं शताब्दी में इस कृति पर टीका का होना इस बात का प्रमाण है कि यह इस काल से पूर्व भी लोकप्रिय थी। संवत् ९१८ (८६१ ईसवी शती) का एक अभिलेख जो जोधपुर के बीस मील उत्तर में स्थित घटयाल ग्राम में पाया गया

है और जो कक्कुक नामक किसी सरदार द्वारा जैन मन्दिर में संस्थापित होने का हवाला देता है, इसी बोली में लिखा गया है। इस प्रकार हम यह मान लेते हैं कि जैन महाराष्ट्री के साक्ष्य दूसरी या तीसरी ईसवी शती से मिलने लगते हैं और चौदहवीं शती तक गौण रूप में यह भाषा चलती रही, इसका साक्ष्य मिलता है।

'कालकाचार्य कथानक' 'ऋषभ पंचाशिका' 'द्वारवती के पतन का आख्यान' जिन्हें जर्मन ओरिएन्टल सोसायटी की पत्रिका में उन्नीसवीं शती के दौरान पाश्चात्य विद्वानों ने संपादित और प्रकाशित किया, इस भाषा की कुछ लघुकृतियां हैं।

(घ) जैन शौरसेनी उस मुख्य भाषा का नाम है जिसमें दिगम्बर जैनों की धर्म-संहिता लिखी गई है। शौरसेनी की मुख्य विशेषताओं को आत्मसात् करती हुई यह भाषा (प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं के स्वर-मध्यवर्ती अघोष दन्त्य त् थ् शौरसेनी में घोष दन्त्य द् ध् के उच्चारण को अपनाते हैं) श्वेताम्बर धर्म-संहिता की भाषा अर्धमागधी से पर्याप्त प्रभावित है। इसका अपना समृद्ध साहित्य है जिसका विस्तृत परीक्षण अब भी अपेक्षित है। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा इस भाषा को दिगम्बरी आदि नाम देने के प्रयत्न में कोई ऐतिहासिक, भौगोलिक या साम्प्रदायिक आधार नहीं दीखता। उनसे इष्टार्थ या तो बहुत अधिक या बहुत कम हाथ लगता है।

कुन्दकुन्द (१०० ईसवी शती) का 'पयवणसार' इस बोली में रचित सर्वाधिक प्राचीन एवं बहुचर्चित कृति है। वस्तुत: कुन्दकुन्द के द्वारा रचित अनेक कृतियां इसी बोली में हैं। इस भाषा में सुलभ कृतियां जो पिशेल को उन्नीसवीं शती से पूर्व सुलभ थीं और जिन्हें इस शती के चतुर्थांश में डब्लू डिंकिस ने परीक्षित किया था इस भाषा को दिए गए नाम के औचित्य को प्रमाणित करती हैं। वे कृतियां हैं वट्ट केराचार्य का 'मूलाचार' कार्तिकेय स्वामिन् का 'कट्टि गेयाणुपेक्खा' और कुन्दकुन्द का 'छप्पाहुड़' 'समय सार' और 'पंचत्थि कार्य'।

अधिकतर जैन शौरसेनी में रचित दिगम्बर जैन धर्म संहिता ईसवी सन् के आरम्भ या उससे कुछ पूर्व रची गई होगी, लेकिन जो भाषा हमें प्राप्त होती है वह उन विशेषताओं को नहीं प्रदर्शित करती, जिसकी आशा उतने पहले की मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा की बोली से की जाती है। इसके अतिरिक्त आलोचनात्मक संस्करण का अभाव भी बोली के सही मूल्यांकन और भारतीय आर्य भाषा-परिवार में उसकी सही स्थिति को समझने में बाधा उपस्थित करता है। लेकिन इतना निश्चित है कि यह दक्षिण भारत में विकसित

हुई क्योंकि इस पर दूसरी प्राकृतों की देशी विशेषताओं का प्रभाव बहुत कम पर संस्कृत और अर्धमागधी का प्रभाव पर्याप्त दीखता है।

(ङ) धार्मिक और साहित्यिक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में अपभ्रंश दिगम्बरों द्वारा विशेष रूप से उपयोग में लाई गई है और योरप में जैकोबी और आल्सडोर्फ की और भारत में वैद्य, जैन और उपाध्ये की जागरूकता के कारण ये ग्रन्थ अच्छी खासी संख्या में प्रकाशित होकर सुलभ हैं। १९०२ में पिशेल के पास (जब उन्होंने अपना 'मैटीरियालीं' लिखा) अपभ्रंश की बहुत कम सामग्री थी और लगभग उसके बाद पन्द्रह वर्षों तक जबतक कि जैकोबी ने १९१८ में 'भविसत्त कहा' और १९२१ में 'संनत्कुमार-चरितम्' का संस्करण प्रकाशित नहीं किया था, कोई भी उत्तम पाठ उपलब्ध नहीं था। इसके बाद तो भारत में ग्रन्थों की नियमित शृंखला प्रकाशित होने लगी। इस भाषा में जोइन्दु (६०० ईसवी शती) द्वारा रचित 'परमप्पयास' एक आरंभिक रहस्यात्मक कृति है। इस भाषा की संभवतः सर्वोत्तम कृति 'महापुराण' और बहुत सी 'जसहरचरिउ' और 'णाय कुमारचरिउ' जैसी लघुवर्णनात्मक कविताओं के रचयिता पुष्पदन्त का नाम अपभ्रंश लेखकों के बीच बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। इनका काल १००० ईसवी शती माना जाता है। 'करकण्ड चरिउ' कवि कनकामर की रचना मानी जाती है।

जैनों ने भी अपनी रचनाओं में अन्य भाषाओं के साथ इस भाषा का उपयोग किया है। इस प्रकार सोमप्रभ का 'कुमार पाल प्रतिबोध' अंशतः संस्कृत और अपभ्रंश में और अधिकतः प्राकृत में लिखा गया है। लक्ष्मणगणिन् के १३४३ ईसवी में रचित 'सुपालनाहचरियम्' में अड़सठ अपभ्रंश पद्य हैं। श्री चन्द्र के वृहदाकार 'कथा कोष' में इस भाषा (अपभ्रंश) में लिखी तिरपन कहानियां मिलती हैं। आगे चल कर १६०० ईसवी में हेमविजय ने अपना 'कथा रत्नाकर' लिखा जिसमें २५८ कहानियां हैं जोकि अधिकतर संस्कृत गद्य में लिखी गई हैं और जिनके बीच में संस्कृत महाराष्ट्री, अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी और पुरानी गुजराती के छन्द बिखरे हुए हैं। इस प्रकार जैनों में अपभ्रंश ईसवी छठी शती से धार्मिक और साहित्यिक अभि-व्यक्ति की भाषा के रूप में उपयोग में आ रही थी। लगभग दसवीं शती का पुष्पदन्त का काल, जहां तक पश्चिमी भारत का सम्बन्ध है, अपभ्रंश साहित्य का निश्चित रूप से शीर्ष-विन्दु समझा जाना चाहिए।

भारत के पूर्व में उत्तरी बौद्धों-द्वारा अपभ्रंश का प्रयोग किया जाता था। कदण्ह और सरह आदि का 'दोहा कोष' इसी बोली में है जिसमें प्रथम का काल सातवीं ईसवी शती माना जाता है। विनीतदेव (८वीं ईसवी शती)

के मतानुसार बौद्धों का सम्मितीय सम्प्रदाय अपभ्रंश, महासांघिक प्राकृत और स्थविरवादी (थेरवादी) पैशाची प्रयोग में लाते थे।

२. साहित्यिक प्राकृतें

(क) दण्डी के द्वारा महाराष्ट्री सर्वोत्कृष्ट प्राकृत मानी गई है और अपने व्याकरण-ग्रन्थों में इसको सबसे पहले विवेचित करने और इसकी प्रमुख विशेषताओं को विस्तार के साथ वर्णन करने की वैयाकरणों में एक परम्परा रही है जबकि ग्रन्थ में अन्य बोलियों का संक्षेप में वर्णन कर दिया जाता था और केवल कुछ तुलनात्मक नियम बता दिए जाते थे। इस भाषा में रचे गए प्रचुर साहित्य के अवशेष हाल की प्रसिद्ध 'सत्तसई' जयवल्लभ के 'वज्जालग्ग' और कवियों की बड़ी संख्या द्वारा रचित प्रगीतों के संग्रहों में मिलते हैं। महाराष्ट्री की तरलस्वनता की विशिष्टता को आत्मसात् किए हुए ये प्रगीत अवश्य श्रुतिमधुर गान के लिए रचे गए होंगे। 'सत्तसई' की पाण्डुलिपि-परम्परा से यह प्रतीत होता है कि इसके कम से कम छह संस्करण थे और मूलतः प्रत्येक छन्द में उसके विशेष रचयिता का नाम ग्रथित था। 'सत्तसई' के प्रचलित पाठ के टीकाकार ११२ नामों का उल्लेख करते हैं जबकि भुवनपाल उल्लिखित नामों की संख्या ३८४ बताते हैं और विभिन्न पद्यों के कृतित्व के सम्बन्ध में भी उनमें ऐकमत्य नहीं हैं। इस संग्रह-ग्रन्थ की तिथि के सम्बन्ध में लोगों के विचार इसकी पूर्वतम कालसीमा ईसवी तृतीय शती और अन्तिम सीमा ईसवी सातवीं शती के बीच भिन्न-भिन्न ठहरती है। श्वेताम्बर जैन जयवल्लभ का दूसरा संग्रह 'वज्जालग्न' सत्तसई की तरह इस भाषा में समृद्ध साहित्य की पूर्व स्थिति को बल देता है। दुर्भाग्य से इसमें इसके विभिन्न पद्यों के रचयिताओं के नाम नहीं दिए गए हैं। १३३६ ईसवी शती में रथदेव ने 'वज्जालग्ग' पर एक छाया लिखी थी।

जिस प्रकार महाराष्ट्री गीति-मुक्तकों के लिए प्रमुख साधन है उसी प्रकार अलंकृत महाकाव्यों की रचना का वह एक प्रमुख माध्यम भी है। इन महाकाव्यों में प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है प्रवरसेन का 'रावण वहो' या दूसरे शब्दों में 'दहमुहवहो' जिसका संस्कृत नाम 'सेतुबन्ध' है तथा कप्पइराअ का 'गौड़वहो'। इनमें से प्रथम सातवीं ईसवी शती में वाण के समय में ही पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुका था, क्योंकि हर्षचरित के आमुख में वाण ने इसका उल्लेख किया है। दण्डी के काव्यादर्श में इसका उल्लेख इस कृति को और पहले की रचना प्रमाणित करता है। इस महत्त्वपूर्ण कृति का मूलपाठ तीन संस्करणों में सुरक्षित है और इसका संस्कृत अनुवाद 'सेतुसरणि' इसके चतुर्थ सस्करण की पूर्व सूचना देता है। द्वितीय महाकाव्य के लेखक वाक्पतिराज हैं, जोकि कन्नौज के महाराजा यशोवर्मन् (आठवीं ईसवी शती) के राज्यकाल में थे।

अन्य महाकाव्यों की तरह 'गोड़वहो' अध्यायों में विभक्त नहीं है और उसके छन्द अनवरत रूप में संख्यांकित हुए हैं। इसी लेखक के द्वारा प्राकृत में "महुमहविअग्र" (मधुमघविजय) नामक एक और अलंकृत महाकाव्य लिखा हुआ बताया जाता है जिसके अनेक छन्द काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उद्धृत हुए हैं।

साहित्यिक प्राकृतों में महाराष्ट्री का अपना विशेष स्थान है। शौरसेनी-मागधी जैसी अन्य भाषाओं ने जिनमें कुछ साहित्य होने की आशा की जाती है पर दुर्भाग्य से नहीं मिलता (संस्कृत नाटकों को छोड़ कर) अपना कुछ भी अवशेष नहीं छोड़ा है। यह तो जब हम पैशाची और अपभ्रंश की ओर मुड़ते हैं, कुछ साक्ष्य-प्राप्त साहित्य देखने को मिलता है। यद्यपि इनमें से प्रथम में कुछ भी हाथ नहीं लगा है।

(ख) पैशाची वह भाषा है जिसमें गुणाढ्य की प्रसिद्ध 'बृहत्कथा' लिखी बताई जाती है। दुर्भाग्य से यह महान् कृति विलुप्त हो चुकी है, केवल इस समृद्ध कथा-साहित्य के कुछ अवशेष सोमदेव के 'कथा सरित्सागर' और क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामंजरी' में संस्कृत में सुरक्षित मिलते हैं। जर्मन विद्वान् लुडविग आल्सडोर्फ ने अपने हाल के शोधों से जैन कथा-साहित्य पर इस प्राचीन कृति के प्रभाव को प्रमाणित कर दिया है और संघदास के 'वसुदेव हिण्डी' पर तो विशेष रूप से इस प्राचीन कृति के अनेक प्रभाव-चिह्न देखने को मिलते हैं। हमारा इस भाषा का ज्ञान मुख्यतः वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट नियमों पर निर्भर करता है, जोकि हमें परम्परा से प्राप्त हुए हैं।

बौद्ध-परम्परा के अनुसार जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है स्थविरों ने जो वैभाषिकों के चार मुख्य संप्रदायों में से एक ठहरते हैं, पैशाची को अपने साहित्यिक माध्यम के रूप में प्रयुक्त किया बताते हैं पर इस सम्बन्ध में हमें कोई प्रामाणिक साक्ष्य सुलभ नहीं हैं।

वैयाकरणों के ग्रन्थों में इस भाषा और इसकी बोलियों के सम्बन्ध में कुछ उल्लेख मिलते हैं परन्तु सम्भवतः विलुप्त बृहत्कथा से प्राप्त कुछ फुटकर उद्धरणों, व्याकरण के नियमों को स्पष्ट करने के लिए वैयाकरणों द्वारा रचित उनकी कुछ विशेष कृतियों या कुछ बहुभाषी स्तोत्र पद्यों के अलावा अधिक साहित्य साक्ष्य में उपलब्ध नहीं होता। 'हमीर मद मर्दन' (१२१९ से १२२९ ईसवी शती का मध्य) या 'मोहराज पराजय' (१२२९-३२ ईसवी शती) जैसे बहुत बाद के संस्कृत नाटकों में कुछ पात्रों से पैशाची की एक उपभाषा बुलवाई गई है।

गुणाढ्य के काल का जहां तक सम्बन्ध है उसकी केवल वस्तुपरक

आधारों पर निचली सीमा स्थिर की जा सकती है। उनकी कृतिका दण्डी ने उल्लेख किया है और बुद्ध स्वामिन् (आठवीं ईसवी शती) का "वृहत्कथा श्लोक-संग्रह" उसका सर्व प्रथम संस्कृत रूपान्तर है। "वसुदेव हिण्डी" में प्राप्त उसका जैन रूपान्तर मूल रूपान्तर को छठी ईसवी शती से पूर्व ले जाता है। द्राविड़ रूपान्तर से भी यह प्रतीत होता है कि 'वृहत्कथा' परम्परागत विवरण के अनुसार उस समय अवश्य रही होगी। वही परम्परा गुणाढ्य को सातवाहन का सम-सामयिक बताती है और इस परम्परा पर विश्वास किया जाए तो गुणाढ्य का काल ईसवी सन् के आरम्भ तक पहुंचता है। इन समस्त तथ्यों के सामूहिक प्रभाव से यह सिद्ध होता है कि पैशाची ईसवी सन् की आरम्भिक शतियों में निश्चित रूप से विकसित हो गई थी। इस भाषा का क्षेत्र विद्वानों में जीवन्त वाद-विवाद और वितर्क का विषय रहा है, लेकिन यह निश्चित रूप से माना जा सकता है कि पैशाची बोलियों का मूल स्थान भारत का उत्तर पश्चिमी भाग था।

(ग) धार्मिक कार्यों से पूर्णतया पृथक्कृत साहित्यिक माध्यम के रूप में अपभ्रंश द्वितीय सहस्त्राब्दी के आरम्भिक भाग में विशेष रूप से देखने में आई। हेमचन्द्र और दूसरों के द्वारा उद्धृत छन्दों की बड़ी संख्या यदि वह स्वरचित नहीं तो निश्चित रूप से उसका सम्बन्ध उक्त साहित्य से था। इनमें से कुछ का तो धार्मिक रचनाओं से सम्बद्ध होने का पहले से ही पता लग चुका है परन्तु इनके बहुत बड़े भाग का सम्बन्ध लौकिक साहित्य से है। प्रसिद्ध दूत-काव्यों के ढंग पर लिखे गए अब्दुर रहमान (अपभ्रंश-अद्धहमाण) के 'सन्देश रासक' का एक रोचक कृति के रूप में हाल ही में पता लगा है। भारत के बहुत से व्यक्तिगत साम्प्रदायिक और सार्वजनिक पुस्तकालयों में विशेष रूप से जैनों के अनन्वेषित भण्डारों में फैली हुई पांडुलिपि-निधियों से अब भी इस भाषा में विशाल साहित्य को खोज निकालना बाकी है।

३. नाटकीय प्राकृतें

नाटकीय प्राकृतों में महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी स्वभावतः मुख्य ठहरती हैं। संस्कृत नाटकों में सामान्यतः स्त्रियाँ जो गद्य में शौरसेनी बोलती हैं अपने गीतों में महाराष्ट्री का उपयोग करती हैं। हम पहले ही महाराष्ट्री में विशाल प्रगीत-साहित्य का उल्लेख कर चुके हैं और संस्कृत नाटकों में प्राप्त गीतों से भी यह तथ्य प्रमाणित होता है। संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त गद्य भागों में प्राकृत बोलियों के बीच शौरसेनी का प्रथम स्थान है। यह बहुशः स्त्रियों, बालकों नपुंसकों, ज्योतिषियों, विक्षिप्तों और रोगियों की भाषा रही है। मागधी का भी नाटकों में उपयोग हुआ है, परन्तु यह शौरसेनी की अपेक्षा अधिक बुरी

हालत में सुरक्षित है। "मृच्छकटिक" में यह शकार उसके अनुचर स्थविरक, संवाहक, कुंभीलक, वर्धमानक, दोनों चांडालों और रोहसेन द्वारा बोली जाती है। 'शाकुन्तलम्' में इसे धीवर, दोनों रक्षी और सर्वदमन बोलते हैं। सामान्यतः मागधी भृत्यों, बौनों, विदेशियों और भिक्षुओं द्वारा बुलवायी गई है।

संस्कृत नाटकों में प्राकृत बोलियों के प्रयोग की परम्परा निश्चित रूप से बहुत पुरानी है। प्राचीनतम नाटकों में जो प्रसिद्ध अश्वघोष की लेखनी से उद्भूत हैं एवं खण्डों में प्राप्त हैं, संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत के उपयोग का प्रमाण मिलता है। हम केवल इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन खण्डों की साक्ष्यप्राप्त भाषा दूसरे नाटकों में प्राप्त भाषा निर्देशों से तुलना करने पर बहुत अधिक पुराकालीन ठहरती है। यह बात पूरी तौर से समझ में आ जाती है, क्योंकि ये खण्ड बहुत पुराने हैं—लेखक के बिलकुल समकालीन यद्यपि दूसरे नाटकों की प्राचीनतम प्रतियाँ भी मुश्किल से तेरहवीं ईसवी शती तक पहुँच पाती हैं। लुडर्स ने दुष्ट की बोली को मागधी, गणिका और विदूषक की बोली को प्राचीन शौरसेनी और तापस की बोली को अर्ध मागधी रूप से श्रेणीबद्ध किया है। उसके बाद प्राचीन निदर्श भास के नाटकों में उपलब्ध होते हैं, लेकिन इन निदर्शों के उदाहरण अपेक्षाकृत बहुत ही हाल के हैं जो अधिकतर दक्षिण भारत में पाए गए हैं और वे भी दक्षिण का अपना वर्तनी-प्रकार लिए हुए जिनसे दक्षिण की पांडुलिपियों में प्राप्त प्राकृत बोलियों में आद्य रूप की प्रतीति होने लगती है। शूद्रक का 'मृच्छकटिक' प्राकृत अध्ययन के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् नाटक है।

संस्कृत नाटकों में भाषाओं के मिश्रण की परम्परा लगभग उस समय से स्थिर हुई, जब से प्राकृत भाषाएं बोलचाल का माध्यम न रहीं। परिणामतः नाटक जो ग्यारहवीं ईसवी शती के बाद या और भी आगे चलकर सत्रहवीं शती में भी लिखे गए उनमें साहित्यशास्त्रियों और वैयाकरणों द्वारा निबद्ध नियमों को ठीक बैठाने के लिए संस्कृत का कृत्रिम प्राकृतीकरण किया जाने लगा। जिस प्रकार कृत्रिम प्राकृत ग्रन्थ बिलकुल हमारे अपने समय तक कुछ अनियमित रूप से सही लिखे जाते रहे उसी प्रकार वैया-करणों द्वारा वर्णित विभिन्न प्राकृत बोलियाँ भी बाद की रचनाओं में उपयोग में लाई जाती रहीं। मूलतः ईसवी तृतीय शती के निया प्राकृत दस्तावेज और ईसवी पूर्व तृतीय शती से चतुर्थ ईसवी शती तक के बहुत से प्राकृत अभिलेख-जैसे उदाहरणों को देखते हुए सांपाश्विक साक्ष्य के आधार पर यह मानना पड़ेगा कि अश्वघोष, भास, शूद्रक या कालिदास के द्वारा प्रयुक्त प्राकृतें निश्चित रूप से उस समय के व्यवहृत माध्यमों से ली गई होंगी, यद्यपि उन बोलियों की

प्रवृत्तियों पर बल देने के लिए वे किंचित् रूढ़ शैली के अनुसार अंकित और इसीलिए कुछ अतिरंजित थीं। लेकिन वही बात बाद के नाटकों के बारे में नहीं कही जा सकती, जोकि उन नाटकों में प्राप्त प्राकृत बोलियों के लगभग बिल्कुल उठ जाने के बाद निर्मित हुए थे, क्योंकि उनमें वैयाकरणों के आदेशों का पालन करने का ही सजग प्रयास दीखता है।

उपर बताई गई मुख्य बोलियों के अलावा वैयाकरणों और टीकाकारों ने दाक्षिणात्या के साथ महाराष्ट्री के मिश्रण के कारण पृथक्कृत और कुछ शब्दरूपात्मक विशेषताओं से युक्त शौरसेनी की प्राच्या और आवन्ती नाम की दो बोलियों का और उल्लेख किया है। पृथ्वीधर के कथनानुसार मृच्छकटिक में विदूषक प्राच्या बोलता है, इसी प्रकार वीरक आवन्ती का उपयोग करता है, जबकि दक्षिण का निवासी चन्दनक पिशेल के अनुसार दाक्षिणात्या बोलता है। यह नाटक मागधी की एक विशेष बोली शाकारी का भी निदर्श प्रस्तुत करता है जिसे राजा का साला (राजश्याल) बोलता है, लेकिन पृथ्वीधर उसे अपभ्रंश की एक बोली मानते हैं। ढक्की या टक्की नाम की बोली द्यूतगृह के स्वामी माथुर और उसके सहचर द्यूतकर द्वारा बुलवायी जाती है। इसी प्रकार पैशाची अनेक संस्कृत नाटकों में उपयोग में लाई गई है, लेकिन उसका यह उपयोग बहुत ही सीमित रूप में हुआ है। उनकी विशेपताओं के विस्तृत अध्ययन के लिए सामग्री इतनी सीमित है कि जबतक कि कोई नई सामग्री खोज में न आए इन बोलियों के परस्पर सम्बन्ध का ठीक पता लगा पाना सम्भव नहीं है। बाद की मध्य कालीन भारतीय आर्य भाषा की बोली अपभ्रंश कालिदासकृत विक्रमोर्वशीय के अनेक गीतों में अभिप्रमाणित की गई है, पर पुरूरवा के द्वारा गाए गए उन गीतों की प्रामाणिकता पर प्रश्न चिह्न लगाया जाता है, फलतः यह निर्णय भी असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता।

इस तरह नाटकीय प्राकृतों में ईसवी सन् के आरम्भ से पन्द्रह शताब्दियों से अधिक काल तक के निदर्श मिलते हैं। अश्वघोष के नाटकों के कुछ अंशों को छोड़ कर अन्य नाटकों के निदर्श तेरहवीं शती के पूर्व के नहीं ठहरते। इस सम्बन्ध में जो विचार पिशेल और उनके अनुयायियों पर छाया हुआ था उसके अनुसार वैयाकरण वररुचि और हेमचन्द्र के मतों को पांडुलिपियों में प्राप्त साक्ष्य की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक माना जाता था। नाटकीय प्राकृतों के अध्ययन के लिए दस्तावेज वास्तव में कश्मीर की शारदा से लेकर दक्षिण की ग्रन्थलिपि तक सभी भारतीय लिपियों में मिलते हैं। अश्वघोष के नाटकों के प्राकृत अंश कुशाण काल के आरम्भिक ब्राह्मी अक्षरों में लिखे मिलते हैं।

४. वैयाकरणों द्वारा वर्णित प्राकृतें

वैयाकरणों द्वारा अभिवर्णित प्रमुख प्राकृतों का पिछले परिच्छेद में उल्लेख किया जा चुका है। प्राचीनतम उपलब्ध प्राकृत व्याकरण के लेखक वररुचि महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी का उल्लेख करते हैं। हेमचन्द्र इन चारों में चूलिका पैशाची या पैशाचिका, अपभ्रंश तथा आर्ष और जोड़ देते हैं। त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर, सिंहराज, नरसिंह तथा अन्य आर्ष या अर्धमागधी को छोड़कर हेमचन्द्र के वर्गीकरण को ही मानते हैं। महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश इन छह भाषाओं के आधार पर बने अनेक प्राकृत व्याकरण-ग्रन्थों को 'षड्भाषा' इस समस्त पद से व्यवहृत किया जाता है। यह तो हम जब मार्कण्डेय के काल तक पहुँचते हैं तो हमें छह के स्थान पर सोलह भाषाएँ देखने को मिलती हैं। वह प्राकृतों को जिन चार श्रेणियों में विभक्त करते हैं वे हैं भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाच। भाषा अपने में महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, आवन्ती, मागधी (अर्ध मागधी को छोड़कर) दाक्षिणात्या और बाह्लीको सन्निविष्ट किए हुए है। विभाषा के अन्तर्गत वह औड्री और द्राविड़ी को छोड़कर शाकारी, चाण्डाली, शाबरी आभीरिकी और शाक्की का उल्लेख करते हैं। वह अपभ्रंश के सत्ताईस प्रकारों को उसके नागर ब्राचड़ और उपनागर प्रकारों से जोड़ते हैं। पैशाची के परिगणित ग्यारह प्रकारों में से वह सिर्फ कैकेय, शौरसेन और पांचाल इन तीन प्रकारों को मानते हैं। इस सम्बन्ध में उनका राम तर्कवागीश और पुरुषोत्तम से ऐकमत्य है।

सभी वैयाकरणों द्वारा प्रयोग में लाई गई सामान्य पद्धति बिल्कुल एक जैसी है। मुख्य प्राकृत के रूप में महाराष्ट्री को प्रथम स्थान दिया गया है और उसकी स्वनप्रक्रिया और शब्दरूप प्रक्रिया की सभी विशेषताएं बड़े विस्तार से वर्णित हुई हैं। बाकी भाषाओं को महाराष्ट्री के *सामान्य नियमों* के अपवाद के रूप में स्थान मिलता है और उसी आधार पर वे उत्तरवर्ती भाषाएं वर्णित हुई हैं।

व्याकरण-ग्रन्थों की एक अच्छी खासी संख्या हमें सुलभ है। वररुचि का प्राकृत-प्रकाश, जिस पर भामह की मनोरमा टीका है, स्पष्टतः प्राचीनतम है। वररुचि के ग्रन्थ पर यह सबसे प्राचीन टीका है। इसके अतिरिक्त वसन्त राज की प्राकृत संजीवनी और सदानन्द की प्राकृत सुबोधिनी नामक दो टीकाएं और हैं, जोकि पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। इस पर प्राकृत-मंजरी नामक एक पद्यात्मक टीका भी है। इसी प्रकार नारायण विद्याविनोद का 'प्राकृतवाद' जो बहुत दिनों तक क्रमदीश्वर के 'संक्षिप्त सार' की टीका समझा जाता रहा, अब

वररुचि पर टीका माना जाता है, क्योंकि उसके छह परिच्छेद वररुचि के प्रथम सात परिच्छेदों से ठीक-ठीक मिलते हैं।

जहाँ तक अन्य प्राकृत व्याकरणों का सम्बन्ध है, चण्ड का प्राकृतलक्षण काफ़ी प्राचीन है। उसमें महाराष्ट्री और जैन प्राकृतों—(आर्ष या अर्ध-मागधी, जैन महाराष्ट्री और जैन शौरसैनी) पर विचार हुआ है।

गुजरात के प्रसिद्ध बहुश्रुत विद्वान् हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई० सन्) का प्राकृत व्याकरण अत्यन्त सुविख्यात और सर्वथा पूर्ण है यह 'सिद्ध हेमचन्द्र' नामक ग्रन्थ आठ अध्यायों में समाविष्ट है और इस पर उनकी अपनी टीका भी है। वे क्रमशः महाराष्ट्री, शौरसैनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश का वर्णन करते हैं। अर्ध-मागधी के सम्बन्ध में उनके व्याकरण में आर्ष के लिए अन्य नियमों के विनियोग को वैकल्पिक बताने के सामान्य नियम मात्र का उल्लेख मिलता है। हेमचन्द्र के व्याकरण पर उनकी अपनी टीका 'बृहती' और 'लघुवृत्ति' के रूप में हमें दो पाठों में प्राप्त होती है, जिसमें दूसरी का शीर्षक प्रकाशिका है। उदयसौभाग्यगणिन् ने इस वृत्ति पर एक व्युत्पत्ति विषयक टीका लिखी, जिसका नाम 'हेमप्राकृत वृत्ति ढुण्ढिका' या 'व्युत्पत्तिवाद' है। हेमचन्द्र के आठवें अध्याय पर नरेन्द्रसूरिकृत एक और टीका है जिसका नाम 'प्राकृत प्रबोध' है।

हेमचन्द्र की तरह क्रमदीश्वर ने 'संक्षिप्त सार' नामक एक संस्कृत व्याकरण-ग्रन्थ लिखा जिसका आठवाँ अध्याय प्राकृत का वर्णन करता है। अधिकतर वे वररुचि का अनुसरण करते हैं। उसकी सही तिथि ज्ञात नहीं, पर इतना निश्चित है कि उन्हें हेमचन्द्र और बोपदेव के मध्यकाल में अर्थात् १२वीं ईसवी शती से १३ वीं ईसवी शती के बीच रखा जा सकता है। यद्यपि उसके संस्कृत अंश पर अनेकों टीकाएं उपलब्ध हैं पर उसके आठवें अध्याय पर कोई भी टीका प्राप्त नहीं होती।

प्राकृत वैयाकरणों की तथाकथित पूर्वी शाखा में पुरुषोत्तम, रामशर्मन् और मार्कण्डेय आते हैं। पुरुषोत्तम देव के 'प्राकृतानुशासन' की जानकारी काठमांडू में नेपाली लाइब्रेरी में सुरक्षित एक मात्र पाण्डुलिपि के आधार पर होती है, जो नेवारी लिपि में है जिस पर नेपाली संवत ३८५ का उल्लेख है और जोकि ईसवी सन् १५६५ ठहरता है। रामशर्मन् तर्कवागीश के 'प्राकृत कल्प-तरु' का पता एक पांडुलिपि से लगता है, जिस पर शक संवत् १६०८ (१६८६ ईसवी सन्) अंकित है और सामान्यतः यह माना जाता है कि इसका समय १६ वीं ईसवी शती का चतुर्थ चरण मार्कण्डेय कवीन्द्र का 'प्राकृत सर्वस्व' पूर्व के दोनों व्याकरण-ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक परिचित है। मार्कण्डेय मुकुन्ददेव

(१६६४-६३ ईसवी सन्) के राज्यकाल में उड़ीसा में रहते थे और उनकी यह लिपि सामान्यतः स्वीकृत समझी जाती है, लेकिन उड़ीसा के शासक कई मुकुन्ददेव थे और यह निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता कि ये कौन से मुकुन्ददेव हैं। ये तीनों व्याकरण-ग्रन्थ प्राकृत को भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाचिका में विभक्त करते हैं। महाराष्ट्री के बाद ये वैयाकरण भाषा-खण्ड के अन्तर्गत शौरसैनी, प्राच्या, आवन्ती और मागधी का विवेचन करते हैं। मार्कण्डेय और रामशर्मन् बाह्लकी, अर्धमागधी (और दाक्षिणात्या) का उल्लेख करते हैं पर उनमें से प्रथम दो को क्रमशः आवन्ती में समाहित कर लेते हैं। इसके बाद अवशिष्ट विभाषा, अपभ्रंश और पैशाचिका इन तीनों का विवेचन किया गया है।

त्रिविक्रम की प्राकृत व्याकरण वृत्ति में सामान्यतः हेमचन्द्र के व्याकरण का अनुसरण हुआ है। लेखक को १३ वीं ईसवी शती के किसी भाग का माना जाता है। प्राकृत वैयाकरणों की पूर्वीय शाखा के विपरीत त्रिविक्रम का सम्बन्ध तथाकथित पश्चिमी शाखा से था जिसके अन्य प्रतिनिधि हैं सिंहराज और लक्ष्मीधर तथा क्रमशः जिनकी कृतियां हैं 'प्राकृत-रूपावतार' तथा 'षड्भाषा-चन्द्रिका'। उसी प्रकार अप्पय्यदीक्षित का 'प्राकृतमणि दीप' भी इसी शाखा से सम्बद्ध है। शुभचन्द्र की 'शब्दचिन्तामणि' इसी श्रेणी के अन्तर्गत आती है।

कुछ ऐसी कृतियाँ जैसे 'प्राकृतकामधेनु' या 'प्राकृतलंकेश्वर' जो मित्र के कैटेलाग के उल्लेखानुसार रावणकृत बताई जाती है तथा कृष्ण पंडित या शेष कृष्ण की 'प्राकृत चंद्रिका' जो मुद्रित रूप में उपलब्ध नहीं है, केवल नाम में ही ज्ञात है।

पूर्ववर्ती विवरणों से यह स्पष्ट है कि बहुत पूर्वकाल से बिल्कुल १७ वीं शती के अन्त तक प्राकृत-व्याकरणों की एक शृंखला मिलती है जो संस्कृत नाटकों और प्राकृत साहित्य में प्रयुक्त प्रमुख बोलियों के सभी पहलुओं का विवरण प्रस्तुत करती हैं। विशेष रूप से वररुचि से लेकर हेमचन्द्र तक के व्याकरण-ग्रन्थों का मूल्य इस बात में है कि वे सभी सामान्यतः उपलब्ध पाण्डुलिपियों से पूर्ववर्ती हैं और यद्यपि वे बहुत कुछ निरपेक्ष उदाहरणों के रूप में प्राप्त होते हैं फिर भी विशेषतः भाषा से सम्बद्ध पाण्डुलिपियों के वर्ग की अपेक्षा कहीं अधिक वास्तविक हैं। जहां तक उनकी टीका-टिप्पणी का प्रश्न है हमें प्राकृत मूलग्रन्थों के उत्तरवर्ती उदाहरणों की सुस्पष्ट त्रुटियों को सही करने के लिए वैयाकरणों के साक्ष्य को स्वीकार करना है। किन्तु जैसाकि पालि और अभिलेखीय प्राकृतों से स्पष्ट है कि वैयाकरण इन दस्तावेजों से दूर रहे हैं इसलिए उस सीमा तक उनके कथन संकीर्ण और कृत्रिम लगते हैं। वस्तुतः

प्राकृत वैयाकरणों का तुलनात्मक अध्ययन अधिसंख्य नियमों में सामान्य सहमति के अतिरिक्त उनके वैशिष्ट्य सम्भाव्य प्रवृत्तियों को कृत्रिम सरणि में बांधने की सूचना देते हैं और विवेच्य विभिन्न भाषाओं की छोटी-मोटी विशेषताओं को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत करते हैं। जितना ही वह उत्तरवर्ती वैयाकरण होगा, उतनी ही वर्गीकरण और विभेदन की प्रवृत्ति स्पष्ट दीखेगी। यह वही प्रवृत्ति है जिसके वशीभूत होकर मार्कण्डेय ने अपभ्रंश की २७ और पैशाची की ११ विधाएं प्रस्तुत कर दीं। इन व्याकरण-ग्रन्थों में प्राप्त अनेक सदोष समताओं से यह स्पष्ट है कि उनके लेखकों ने समस्त प्राचीन भारतीय भाषाओं को ध्यान में नहीं रखा, केवल क्लासिक (लौकिक) संस्कृत तक ही सीमित रखा क्योंकि हेमचन्द्र वैदिक स्कम्भ को ध्यान में न रखकर संस्कृत 'स्तम्भ' को प्राकृत खम्भ के बराबर बताते हैं। इन छोटी-मोटी त्रुटियों के बावजूद भी ये व्याकरण-ग्रन्थ साहित्य की विभिन्न शाखाओं में प्रयुक्त इन छह प्रमुख प्राकृतों के लिए मुख्य प्रमाण बने हुए हैं।

(ब) इन व्याकरण-ग्रन्थों के साथ भरत के 'नाट्यशास्त्र' जैसे संग्रहों को भी जोड़ा जा सकता है जो साहित्य में प्राकृत बोलियों के प्रयोगों और विशेषताओं का वर्णन करते हैं। अलंकारशास्त्र के मूल ग्रन्थ और उन पर प्राप्त विशाल टीका-साहित्य प्राकृत के प्रकारों का या तो भाषा की दृष्टि से या किसी अन्य अलंकार विशेष को स्पष्ट करने के लिए प्राचीन साहित्य से उद्धृत उदाहरणों के रूप में वर्णन करते हैं। रूद्रट के अलंकार-ग्रन्थ पर नमिसाधु की और 'मृच्छकटिक' पर पृथ्वीधर की टीका से भी प्राकृतों का कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। जहां तक प्राकृत-साहित्य के इन निदर्शों का सम्बन्ध है उनका उपयोग गम्भीर अध्ययन की दृष्टि से नहीं किया गया है।

(स) प्राकृत शब्द समूहों—विशेष रूप से तथाकथित देशी शब्दों के अध्ययन के लिए धनपाल की 'पाइयलच्छी' तथा हेमचन्द्र की 'देशी नाममाला' ये दो शब्दकोष हैं जोकि वैसे शब्दों में वैज्ञानिक ढंग से सुव्यवस्थित अधिसंख्य निदर्श प्रस्तुत करते हैं। प्राकृत शब्दों (चाहे देशी हों) के इतिहास के अध्ययन के लिए वे अमूल्य ठहरते हैं क्योंकि उनमें से बहुत से वर्तमान प्राकृत-साहित्य में भी नहीं प्राप्त होते। धनपाल का काल उनके अनुसार १०वीं शती का उत्तरार्द्ध ठहरता है और उनकी कृति विक्रम संवत् १०२९ में या ९७२ ईसवी सन् में रची गई।

५. भारत-बहिःस्थ प्राकृत

खरोष्ठी या प्राकृत धम्मपद में जिसे मैन्युस्क्रिप्ट ड्यून्ट्रेदर्रि भी कहते हैं, भोजपत्र की प्राचीन पाण्डुलिपि के महत्त्वपूर्ण अंश मिलते हैं जिसे अभागे

फ्रेंच यात्री एम. ड्यूटे ने खोतान में १८९२ में पाया था। इन अंशों का अपेक्षाकृत बड़ा भाग कासार के रूसी महाकांसुल एम. पेट्रोव्स्की ने पहले ही प्राप्त कर लिया था। जिनकी मध्यस्थता से वे सेंट पीटर्सबर्ग की इम्पीरियल अकादमी में भेज दिए गए थे। इन अंशों का वास्तविक प्राप्ति-स्थान तो ज्ञात नहीं लेकिन गोशृंग पर्वत की कोहमरी गुफाओं को इसका मूल स्थान बताया जाता है जहां से कुछ मूल-निवासियों ने इन अंशों को पुनः प्राप्त किया था। ड्यून्द्रे दरि मैन्युस्क्रिप्ट अब पेरिस में है जबकि अंशों का वह वृहत्तर संग्रह जिसे पेट्रोव्सकी मेन्युस्क्रिप्ट कहते हैं पेट्रोग्रेड में है। रूसी विद्वान् एस. ओल्डेनवर्ग के सौजन्य से जिन्होंने उन अंशों को पढ़ा और ठीक बैठाया, वे बाद में फ्रांसीसी विद्वान् एमाली सेनार्ट के अधिकार में आए जिन्होंने यह स्थिर किया कि वे दोनों संग्रह एक दस्तावेज के भाग हैं और १८९७ में इन्हें सम्पादित किया। तभी से यूरोप और भारत के विद्वानों ने इस महत्त्वपूर्ण कृति पर पर्याप्त ध्यान दिया फलतः कलकत्ता विश्वविद्यालय के बी. एल. बरूआ और एस. मित्र द्वारा सम्पादित इसका संशोधित संस्करण तथा लन्दन विश्वविद्यालय के जॉन ब्रो द्वारा गान्धारी धम्मपद नाम से सम्पादित इसका निर्णायक संस्करण इसके परिणाम हैं।

इन महत्त्वपूर्ण अंशों की भाषा भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश की बोलियों से बहुत मिलती है। इसकी स्वनप्रक्रियात्मक एवं अन्य विशेषताओं के निकट परीक्षण से जूलस ब्लॉक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि खरोष्ठी धम्मपद का मूल भाग निश्चित रूप से भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में लिखा गया होगा जोकि वहां की बोलियों के साथ अपना एक वर्ग बनाता है। उन लिपि-चिह्नों में लिखे जाने के कारण ही उनका शीर्षक खरोष्ठी धम्मपद रखा गया है। पुरालिपि-ज्ञान के आधार पर इन अंशों का काल २०० ईसवी शती माना गया है।

सर आंरेटल स्टीन ने अपनी कई खोज-यात्राओं के दौरान चीनी तुर्किस्तान में बहुत से खरोष्ठी दस्तावेज पाए थे। ये १९००-०१ की खोज-यात्रा में कुछ दस्तावेज मिले थे जिन्हें कि ए. एम. बोयर, ई. जे. रैप्सन तथा सेनार्ट, इन तीनों विद्वानों ने लिप्यंकित और सम्पादित किया और जो १९२० में क्लेरेन्डन प्रैस, ऑक्सफोर्ड द्वारा प्रकाशित हुए। ये सारे दस्तावेज निया-प्राचीन चडौता से प्राप्त हुए हैं जोकि खोतान की सीमा से लगे हुए राज्य के अन्तिम छोर पर स्थित है। १९०६-७ के दौरान की गई दूसरी खोज-यात्रा में निया एन्डरे और लाउलॉन स्थलों से दस्तावेज प्राप्त किए गए जिनका सम्पादन और प्रकाशन उक्त तीनों विद्वानों ने १९२७ में किया। १९१३-१४ में की गई तीसरी खोज-यात्रा में निया और लाउलॉन स्थलों से और दस्तावेज प्राप्त हुए जिनका

सम्पादन और प्रकाशन १९२९ में हुआ। खरोष्ठी अभिलेख नामक ये तीनों जिल्दें, जिन्हें सर आॅरेटल स्टीन ने चीन-तुर्किस्तान में खोज निकाला था भारतीय प्राकृत में लिखित इन दस्तावेजों की भाषा के अध्ययन का आधार बनीं। १९३७ में टी बरो ने इन दस्तावेजों की भाषा पर एक छोटा सा निबन्ध प्रस्तुत किया और उनका निष्कर्ष संक्षेप में यहाँ दिया जा रहा है। यह दस्तावेज भारतीय प्राकृत के उस प्रकार में लिखे गए हैं जिसका उपयोग तीसरी ईसवी शती में शान-शान या क्रोरेना की प्रशासन-भाषा में किया गया है। मूल पाठ ने अपने इस रूप में आने में ८८ वर्षों से अधिक समय लिया होगा और इसका काल अनेक खरोष्ठी फलकों के साथ उस ढेर में प्राप्त एक चीनी दस्तावेज के आधार पर जिस पर २६९ ईसवी शती अंकित है, स्थिर किया गया है। इन पाठों का अधिकांश निया से प्राप्त हुआ है इसीलिए इस भाषा को निया प्राकृत नाम दिया गया है। स्वनप्रक्रियात्मक और अन्य विचारों के आधार पर इन दस्तावेजों की भाषा का मूल स्थान उत्तर पश्चिमी भारत सम्भवतः पेशावर का क्षेत्र प्रतीत होता है। यह उत्तर पश्चिमी भारत से प्राप्त खरोष्ठी अभिलेखों (अशोकोत्तरवर्ती) से बहुत निकटता से और धम्मपद के प्राकृत पाठ से कुछ कम निकटता से मिलती है। इसके अतिरिक्त आधुनिक दरदी भाषा के साथ, जिसे निश्चित रूप में उस वर्ग में रखा जाता है, इसकी विशेषताएं बहुत मिलती-जुलती हैं और इन भाषाओं में भी वह तोरवली से बहुत ही समता रखती है।

इनमें से बहुत से दस्तावेज सरकारी ढंग के हैं जैसे दण्डनायकों को राजा द्वारा दिए गए निर्देश, विक्रीपत्र, व्यक्तिगत पत्र और अनेक प्रकार की सूचियाँ। टा. बरो ने इसका पूरा अंग्रेज़ी अनुवाद रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की जेम्स जी. फर्लंग सिरीज में (लन्दन १९४०) प्रकाशित किया था। अपने भारतीय आदि प्ररूप के आमने-सामने रखने पर इस खरोष्ठी की यह विशेषता है कि इसमें न केवल दीर्घस्वर और स्वरात्मक 'ऋ' के लिए बल्कि महाप्राण वर्णों के लिए भी निम्नवर्त्ती लिपि-संकेत मिलते हैं जोकि जहाँ तक लिखित निरूपण का सम्बन्ध हैं, भारतीय प्राकृतों में नहीं उपलब्ध होते।

अभिलेखीय प्राकृत

सबसे प्राचीन अभिलेख जो हमें प्राप्त हुए हैं वे महान् मौर्य सम्राट् अशोक के हैं। वे ब्राह्मी और खरोष्ठी इन दो लिपियों में उत्कीर्ण मिलते हैं जिनमें अन्तिम का उपयोग केवल सहबाजगढ़ी (मरदान से लगभग ७ मील उत्तर-पूर्व) और मानसेहरा में केवल शिलाधर्मादेशों के लिए हुआ है। ये अभिलेख सामान्यतः निम्न छह श्रेणियों में विभाजित है:—

१. शिलाधर्मदिश : खरोष्ठी धर्मादेशों के अलावा सहबाजगढ़ी और मानसेहरा में प्राप्त ब्राह्मी शिला-धर्मादेश भी गिरनार (जूनागढ़) कालसी (मसूरी से १६ मील चकराता मार्ग पर) धौली (कटक से १८ मील), जौगड़ (गंजम के १८ मील उत्तर-पश्चिम) और सोपार (बसेन से ३ मील) में पाए गए हैं।

(२) लघुशिलाधर्मादेश रूपनाथ (जबलपुर जिला), सहसराम (मुगलसराय और गया के मध्य), बैराट (जयपुर राज्य), ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर, जटिंग रामेश्वर (मैसूर राज्य), मस्की, कोपबाल (हैदराबाद राज्य) और येरागुडी (कुर्नूल-जिला) में पाए गए हैं।

(३) स्तम्भ लेख दिल्ली-तोप्रा (१९५६ ईसवी शती में सुल्तान-फीरोज द्वारा मिरत से लाए गए), इलाहाबाद कौशाम्बी तथा रधिया एवं मधिया (चम्पारन जिला, बिहार) तथा रामपुरा में बिखरे हुए हैं।

(४) छोटे स्तम्भ लेख सारनाथ, साँची और (इलाहाबाद) कौशाम्बी में पाए जाते हैं।

(५) स्तम्भ समर्पण नेपाल प्रदेश में रम्मिनदेई, निगलिव में प्राप्त होते हैं।

(६) गुफा उत्कीर्ण लेख बराबर तथा गया जिले में नागार्जुनी गुफाओं में मिलते हैं।

इन अभिलेखों के वितरण को देखकर यह ज्ञात होता है कि व्यावहारिक रूप से भारत के अधिकांश भाग में ये फैले हुए हैं। वे चार विभिन्न वर्गों-पश्चिमी, उत्तर-पश्चिमी, पूर्वी और केन्द्रीय (मध्यवर्ती) (दक्षिणी भाग के सहित) का प्रतिनिधित्व करते हैं। विषयवस्तु आकार और विस्तार की दृष्टि से वे भारतीय अभिलेखों के समस्त क्षेत्र में वेजोड़ हैं और कुछ सीमा तक हमें डेरियस (दारयउश्) के प्राचीन फारसी अभिलेखों की याद दिलाते हैं।

(ब) अशोक के अभिलेखों के अलावा अन्य ब्राह्मी अभिलेख भारत के विभिन्न भागों में फैले हुए हैं। वे विभिन्न कालावधि के हैं तथा १० शतियों से अधिक समय के हैं लेकिन इनमें से प्रमुख ई.पू. तीसरी और ईसा के पश्चात् चौथी शती के बीच में पड़ते हैं। यदि इन्हें क्षेत्रों के अनुसार समूहित करें तो ये पश्चिमी, उत्तर-पश्चिमी, उत्तर-पूर्वी, मध्यवर्ती (केन्द्रीय) और दक्षिणी, इन पांच श्रेणियों में बंटते हैं। अभिलेखों की कुल संख्या निश्चित रूप से दो हजार के आसपास ठहरती है, परन्तु वे सब समान महत्त्व के नहीं हैं। उनमें से कुछ तो बड़े हैं जबकि अन्य जैसे सांची के कुछ मुश्किल से १ पंक्ति से अधिक हो पाते हैं और उनसे बहुत कम भाषा-सामग्री मिलती है। दाता के नाम के अतिरिक्त जो एक

अभिलेख से दूसरे में बदलता रहता है, वास्तव में सभी दान-पत्र स्वरूप में मानकीकृत होते हैं। हाथी गुम्फा गुफा के द्वार पर उत्कीर्ण खारवेल का अभिलेख सुपरिचित है। इसी प्रकार उदयगिरि के अभिलेख तथा पश्चिमी भारत में आंध्र राजाओं के अभिलेख लम्बाई में काफी बड़े हैं।

अनेक ब्राह्मी अभिलेख श्रीलंका में ईसा पूर्व द्वितीय शती और चतुर्थ या पंचम ईसवी शती के बीच में पाए गए हैं। इनमें प्राचीनतम या तो गुफा-अभिलेख हैं या शिला-अभिलेख। इनमें से गुफा-अभिलेख तो समूचे द्वीप में पाए जाते हैं उनमें भी सबसे छोटों में दाता का नाम होता है और सबसे बड़ों में दाता का नाम और उपाधि के अतिरिक्त पिता की भी नामोपाधि और रूढ़ समर्पणात्मक पदबन्ध पाया जाता है। शिला-अभिलेख विभिन्न काल और प्रकार के हैं और सामान्यतः जलाशयों के पास पाए जाते हैं तथा उनमें जलाशय का किसी मन्दिर को समर्पण वर्णित होता है। गुफा-अभिलेखों की अपेक्षा वे भाषा की दृष्टि से अधिक समृद्ध हैं और इनमें प्राचीनतम भी उतने ही प्राचीन हैं, जितने कि गुफा-अभिलेख। इन ब्राह्मी अभिलेखों की भाषा स्वन-प्रक्रिया और शब्द रूप-प्रक्रिया की दृष्टि से बिल्कुल मध्यकालीन भारतीय प्राकृत बोलियों के प्रकार की है और गीगर ने इन्हें सिंहली प्राकृत नाम दिया है।

(स) अशोक के अभिलेखों के अतिरिक्त खरोष्ठी अभिलेख अधिकतर भारत के उत्तर-पश्चिम में पाए जाते हैं जिसका क्षेत्र ६६ अंश से ७३ अंश ३० कला पूर्व की ओर तथा हिन्दुकुश से लगभग ३३ अंश उत्तर की ओर फैला है। इसकी धुरपूर्वी सीमा पंजाब माणिकियाल में है। कांगड़ा से भी दो अभिलेख मिले हैं जिनमें ब्राह्मी के अतिरिक्त खरोष्ठी भी प्रयुक्त हुई है। यमुना के तट पर मथुरा में जो सुप्रसिद्ध अभिलेख मिला है वह खरोष्ठी में है यद्यपि इस क्षेत्र के लिए ब्राह्मी स्वाभाविक लिपि है। पटना से भी खरोष्ठी अभिलेख प्राप्त हुआ है। तथापि खरोष्ठी अभिलेखों की प्राप्ति के लिए उत्तर-पश्चिम उपयुक्त क्षेत्र है।

'ब' और 'स' भाग में ऊपर उल्लिखित अभिलेख विभिन्न लेखन-सामग्री पर उत्कीर्ण मिलते हैं, यथा: शिला या प्रस्तर, ताम्रपत्र रजतपट्ट या कलश, सुवर्णपट्ट या रजतपत्र, मुद्रा आधार और प्रतिमा, भांडखंड और लेखनपट्ट भी कांस्य मंजूषा, पकी मिट्टी के फलक और ईंट, मर्तबान, दीपक, मिट्टी का ठीकरा या भांडखण्ड आदि अभिलेखों के साधन रूप में बड़े ही काम के हैं।

(द) मध्यकालीन भारतीय आर्य बोलियों के अध्ययन के लिए अन्य महत्त्वपूर्ण स्रोत भारत के सिक्कों की आरंभिक टंकण-व्यवस्था में पाया जाता

है। ये सिक्के दो मुख्य श्रेणियों में बंटे हैं। अनुत्कीर्ण (अविशेषित) और उत्कीर्ण (या कुछ यथार्थता की यात्रा के साथ किसी विशेष काल या प्रदेश पर अन्य प्रकार के गुणारोपण के योग्य)। प्रथम श्रेणी के चार प्रकार हैं: उत्तर-पश्चिम भारत में प्राप्त चांदी के सिक्के, वे मोटे होते हैं, चांदी के सिक्के कुछ नत शालाकाओं के होते हैं जिनपर चक्र या सूर्य-सदृश अभिकल्प अंकित होता है। अन्य हैं पंचमार्क (आहत) रजत सिक्के, अनुत्कीर्ण ढले तांबे के सिक्के और पंचमार्क (आहत) तांबे के सिक्के। हमारे प्रयोजन के लिए यह श्रेणी कम महत्त्व की है। इनके अतिरिक्त पांचवां प्रकार दूसरी श्रेणी से सम्बन्ध रखता है जिसमें या तो ग्रीक, ब्राह्मी, खरोष्ठी या आरम्भिक नागरी लिपि में उत्कीर्ण सिक्के आते हैं। ये सिक्के सुवर्ण, रजत या ताम्र के बने हैं।

उत्कीर्ण सिक्के भारत के अनेक भागों में पाये गये हैं। उनकी कालावधि ईसा पूर्व तृतीय से कुछ और पहले ठहरती है। धर्मपाल का प्राचीनतम उत्कीर्ण भारतीय सिक्का एरण स्थान पर (मध्य प्रदेश के सागर जिले में) पाया गया है और यह ईसा पूर्व तृतीय शती से बाद का नहीं हो सकता। इस पर धर्मपाल का आख्यान अंकित है जो सिक्के के चारों ओर ब्राह्मी में दक्षिण से वाम की ओर लिखा हुआ है। पहला सिक्का जो ग्रीक और खरोष्ठी दोनों लिपियों में आख्यान को प्रदर्शित करता है, वह डेमेट्रियस का चौकोर तांबे का है (लगभग ईसा पूर्व द्वितीय शती)। समक्ष वज्र के तीनों पार्श्वों पर खरोष्ठी आख्यान में लिखा है: 'महाराजस अपरिजितस दिमें'। विशुद्ध ग्रीक आख्यान से युक्त सिक्के पंजाब से सिकन्दर महान् के आक्रमण के काल के हैं (३२६ ईसा पूर्व)। अपने विजय के स्मारक रूप में उसने एक सिक्का ढलाया। यह उल्लेख अत्यन्त रोचक है कि उसी समय एक भारतीय राजकुमार सोफीटस (सौभूति) ने ग्रीक शैली में एक सिक्का ढलवाया।

इस प्रकार ईसा पूर्व चतुर्थ शती के उत्तरार्द्ध से गुप्तकाल तक प्राकृत आख्यानों को धारण किए सिक्कों की एक बड़ी संख्या मिलती है और उसकी रहस्यमय प्रकृति के बावजूद वह भारत में विशेष रूप से उत्तर-पश्चिम में मध्यकालीन भारतीय आर्य बोलियों के निरन्तर प्रयोग का साक्ष्य पाते हैं। यह साक्ष्य न केवल सिक्का-लेखों बल्कि मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा और ग्रीक के स्वनविज्ञान के लिए जबकि प्राकृत-ग्रीक दोनों में समानान्तर आख्यान मिलते हैं, बड़े महत्त्व का है।

७. लोक-प्रचलित संस्कृत

जैसा कि पहले ही अध्याय में उल्लेख किया जा चुका है, लोकप्रचलित संस्कृत एक मध्यकालीन भारतीय आर्य बोली के रूप में वर्गीकृत होनी चाहिए।

संस्कृत के इस प्रकार पर (अ) कुछ मध्यकालीन भारतीय आर्य माध्यम के क्लासिक प्रकार या उच्चतर साहित्यिक माध्यम संस्कृत से सादृश्य के परिणामस्वरूप कुछ लोकप्रिय लेखकों के द्वारा उसको अपनाने के सजग प्रयत्न के रूप में या (ब) क्लासिक संस्कृत के उस काल की बोलचाल की भाषा में प्रचलित अशुद्ध रूपों के साथ स्वाभाविक मिश्रण के रूप में विचार किया जा सकता है। प्रथम दृष्टि रासायनिक क्षेत्र के यौगिक की तरह है जबकि द्वितीय दृष्टि मिश्रण से मिलती है। उदाहरणार्थ जब हम 'भिक्षुस्य' (भिक्षु शब्द का सम्बन्ध एक वचन) रूप का प्रयोग करते हैं तो हमारे मन में ऐतिहासिक रूप से 'हरेः' 'विष्णोः' जैसे रूपों से हट कर 'रामस्य' 'कृष्णस्य' का सादृश्य काम करता है, या इसे दूसरे ढंग से यों भी सोचा जा सकता है कि यह मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के भिक्खु-स्य रूप का प्रति संस्कृतीकरण है (भिक्खुणो, अग्गिणो के साथ 'अग्गिस्य' की तुलना कीजिए), जहां अन्त्य प्रत्यय 'स्स' सादृश्य की प्रक्रिया के कारण सामान्य बन गया है। प्रथम उदाहरण में यथार्थतः मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा की प्रक्रिया लोक-प्रचलित संस्कृत पर काम करती दीखती है। परिणामतः वह मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा का एक भाग बन गई है। दूसरे उदाहरण में हमें मध्यकालीन आर्य भाषा का संस्कृत प्रतिरूप की ओर सजग उपगमन दीखता है। उपर्युक्त किसी भी उदाहरण में हमें शक्ति-संगठन काम करता दीखता है जो प्राचीन भारतीय आर्य भाषा को अपने मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के वंशज के रूप में घटा कर प्रस्तुत करता है और अगर ये प्रवृत्तियां मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा में प्राप्त समान तत्त्वों से मिला दी जाएँ तो हम देख सकेंगे कि किस प्रकार प्राचीन भारतीय आर्य भाषा ने अपने लौकिक विकास में अपने को मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा में रूपान्तरित कर दिया है:—

ये लोक प्रचलित संस्कृत बोलियां बौद्धों (विशेषतः महायानी) जैनों और हिन्दुओं द्वारा प्रयुक्त माध्यम को ध्यान में रखते हुए तीन श्रेणियों में विभक्त की जा सकती हैं।

(अ) बौद्ध संस्कृतः—बौद्ध संस्कृत-साहित्य के व्यापक सर्वेक्षण के लिए सर्वोत्तम उपयोगी पुस्तक विन्टरनिट्स का भारतीय साहित्य का इतिहास भाग-२ (पृष्ठ २२६-४०१) है। जब महावस्तु जैसे ग्रन्थ (सेनार्ट द्वारा तीन जिल्दों में संपादित, पेरिस १८८२-९७) भाषाविदों के हाथ लगे, बौद्ध संस्कृत या 'गाथा डाइलेक्ट' का अध्ययन सम्भव हो गया। सद्धर्मपुण्डरीक, ललितविस्तर और अवदान शतक जैसे ग्रन्थ इस मिश्र या संकर संस्कृत में लिखे गए हैं जिसका विस्तृत अध्ययन अमेरिकी विद्वान् फ्रैंकलिन एजर्टन द्वारा किया गया

है। एजर्टन ने इस बोली को 'बौद्ध संकर संस्कृत' नाम दिया है। इस श्रेणी के साहित्य के आधुनिकतम प्रकाशित ग्रन्थों में मारबुर्ग के जे. नोबेल द्वारा संपादित 'सुवर्णभासोत्तम सूत्र' है। ये समस्त ग्रन्थ मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा-संरचना में समृद्ध हैं तथा इनके परिवर्त भाषावैज्ञानिकों और ग्रन्थ के आलोचकों को पर्याप्त अनुदेश देते हैं।

(ब) यह पुनः अमरीकी विद्वान् (संयोगवश ये एजर्टन के गुरू रहे हैं) मारिश ब्लूमफील्ड के कारण यह सम्भव हो सका कि हम लोग प्रचलित जैन संस्कृत की बोलीगत विशेषताओं का प्रथम प्रतिपादन (उनके लेख में जो प्रकाशनार्थ एन्टीडोरोन को भेजा गया) कर सके। बहुत ही हाल में डॉ. ए. एन. उपाध्ये (वरांगचरित की भूमिका) तथा श्री मुल्कराज जैन (चित्रसेन-पद्मावती चरित्र, की भूमिका) के अध्ययनों ने इस बोली की मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाई विशेषता को प्रदर्शित किया है। सभी जैनों ने नियमतः अपने टीका-साहित्य एवं मौलिक रचनाओं को इन मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाई विशेषताओं से सर्वथा सुरक्षित रखा है। फिर भी प्राकृत और भाषा की परम्पराओं ने जो उनके सभी प्रमुख क्रिया-कलापों को विशेषता प्रदान करती रही तथा भारतीय बोली-साहित्य को समृद्ध करती रही, साधारण जनता को सम्बोधित उनकी विशुद्ध संस्कृत रचनाओं पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ा है। इस प्रकार संस्कृत में लिखित टीकाओं, कथा-साहित्यों, तथा अन्य लोकप्रिय रचनाओं में यह मध्यकालीन भारतीय आर्यीकरण की प्रवृत्ति बढ़ रही थी और हमारे मध्यकालीन भारतीय आर्य बोलियों के वैज्ञानिक सर्वेक्षण को पूरा करने के लिए हमें समृद्ध सामग्री प्रदान कर रही थी।

(स) बिलकुल इसी प्रकार हिन्दुओं द्वारा लिखित तथा मध्यकालीन भारतीय भाषा के अध्ययन में उपयोगी महाकाव्य और पुराण (तांत्रिक और तकनीकी साहित्य के सहित) लोक-प्रचलित संस्कृत का तीसरा स्रोत प्रस्तुत करते हैं। क्योंकि योरोपीय विद्वानों के प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के जिसमें वैदिक और क्लासिक दोनों प्रकार की संस्कृत का समावेश है, वैज्ञानिक व्याकरण के निर्माण के प्रथम प्रयत्नों में भी हम देखते हैं कि रामायण, महाभारत जैसी लोकप्रिय रचनाओं में प्राप्त बोलियों के अध्ययन का प्रयास मिलता है। उन अध्ययनों से यह संकेत मिलता है कि महाकाव्यों में प्राप्त व्याकरण की अनियमितताओं की अधिकतर छन्दोगत तथा लोकगत आवश्यकताओं के आधार पर व्याख्या की गई है। क्लासिक संस्कृत के लिए जिनका उपयोग आवश्यक समझा जाता था यहाँ उनका अपवाद मिलता है। जो कि स्वयं वैदिक संस्कृत की समृद्ध विशेषताओं का असामान्यीकरण एवं चयनात्मक मानकीकरण है।

लेकिन यह बहुत ही हाल की बात है जबकि अपगमन की सही अर्थवत्ता समझी गई है। इस साहित्य में जो पुरागत प्रयोग नवप्रवर्तन, नए शब्द और रूप मिलते हैं वे मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं के सही निर्देशक हैं। यहां हम प्राकृत के मूल स्रोत के सम्बन्ध में यह बताने के लिए कि मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा विशेषताएं इन रचनाओं में मिलती हैं, पर्जिटर के सिद्धान्त की ओर संकेत करेंगे।

इस सम्बन्ध में भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्सटीट्यूट, पुणे द्वारा प्रकाशित महाभारत के समीक्षात्मक संस्करण की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। आलोचनात्मक रूप से संरचित इस ग्रन्थ के आधार पर यह सम्भव हुआ है, (वह भी केवल पहली बार) कि उक्त महाकाव्यों की व्याकरण की प्रमुख विशेषताओं का वैज्ञानिक विशुद्धता के साथ वर्णन किया जाए। इसमें कोई संदेह नहीं कि जब यह व्याकरण संकलित हो जाएगा तब मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के सम्वन्ध में हमारा ज्ञान बहुत बढ़ जाएगा और हम इस स्थिति में होंगे कि हम अपने भाषाई और सांस्कृतिक उत्तराधिकार पर मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के योगदान को सही ढंग से समझ सकेंगे।

प्राकृत भाषा के अपने विस्तृत सर्वेक्षण के लिए हमने ऊपर मध्यकालीन आर्य भाषा की सामग्री के मूल स्रोतों का हवाला दिया है। यह सम्भव नहीं है कि उसके हर एक मुद्दे पर कुछ अभिलक्षक (ठेठ) प्रकारों से अधिक संकेत दिया जाए, फलतः पूर्ववर्ती सर्वेक्षण अत्यन्त संक्षिप्त रहा है। इसमें रुचि लेने वाले विद्वान् अंत में दी गई सन्दर्भिका को देख सकते हैं जोकि इन रोचक साहित्यों के विस्तृत अध्ययन के लिए आवश्यक प्रमुख स्रोतों का परिचय करा देंगे।

स्रोत-सामग्री का अविवेकपूर्ण उपयोग करने वालों के लिए यहां चेतावनी के रूप में कुछ कहना असंगत नहीं होगा। कुछ अपवादों को छोड़कर व्यावहारिक दृष्टि से मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के आलोचनात्मक संस्करण नहीं मिलते (पालि, अर्धमागधी और जैन प्राकृत, अपभ्रंश और लोक प्रचलित संस्कृत, नाटकीय प्राकृत आदि) तथा कोई भी निष्कर्ष जो अपरीक्षित सामग्री पर आधारित है, आलोचनात्मक संस्करणों के हाथ आते ही त्यागना पड़ सकता है। इस अध्ययन के लिए केवल सही वस्तुपरक भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि ही सुदृढ़ आधार हो सकती है।

३

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं की भाषागत विशेषताएँ

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के अध्ययन के लिए जो सीमा हमने निर्दिष्ट की है उसके भीतर यह सम्भव नहीं है कि पिछले अध्याय में परिगणित मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण के बारे में हम अधिक ब्यौरे में जायें। लेकिन हमारे लिए इन भाषाओं की उन प्रमुख विशेषताओं का जानना आवश्यक है जो कि उन्हें प्राचीन भारतीय आर्यों की बोलियों से अलग करती हैं। विस्तृत तुलनात्मक व्याकरण के लिए कोई भी ऐसी एक कृति नहीं है जो पिछले अध्याय में वर्णित सम्पूर्ण मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा-सामग्री का लेखा-जोखा प्रस्तुत कर सके। दूसरी ओर पिशेल के महान् ग्रन्थ 'ग्रामेटिक' जैसे कुछ विशिष्ट व्याकरण-ग्रन्थ विशुद्ध रूप में वर्णनात्मक हैं तथा भाषावैज्ञानिक दृष्टि से कमज़ोर पड़ते हैं, जबकि ब्लाख का 'इण्डो आर्यन' पर्याप्त संक्षिप्त और लघु है. जो भारतीय आर्य भाषा-विज्ञान के सम्पूर्ण क्षेत्र का सरसरी तौर पर सर्वेक्षण मात्र करता है। प्रस्तुत पुस्तक में इन भाषाओं की प्रमुख विशेषताओं की ओर भाषाई दृष्टि से संकेत करने का प्रयत्न किया गया है। कुछ वर्ष पूर्व सुकुमार सेन द्वारा रचित मध्यकालीन भारतीय-आर्य भाषा का तुलनात्मक व्याकरण भारत की लिंग्विस्टिक सोसाइटी

द्वारा प्रकाशित किया गया है।

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं के शब्दों का अभाव इसकी पहली विशेषता है जिसका अदीक्षित को भी आभास हो जाता है। जबकि मराठी या हिन्दी के ग्रन्थों में उनकी अपनी सर्वाधिक प्राचीन अवस्था से ही नवीन भारतीय आर्य भाषाओं के शब्दों के साथ-साथ प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं के शब्दों का अच्छा-खासा अनुपात देखने को मिलता है, मध्यकालीन आर्य उप-भाषाओं में मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के केवल शब्द-रूप मिलते हैं। दूसरी ओर लगभग उसी समय का रचा हुआ द्रविड-साहित्य है जिसकी शब्दावली का तीन चौथाई से भी अधिक भाग संस्कृत से उधार लिया हुआ है। प्रश्न स्वभावतः यह उठता है कि क्या इससे वस्तुतः सही स्थिति सामने आती है? अगर हम मान लें कि यह ऐसा ही है तो हमें यह मानना पड़ेगा कि संस्कृत पूरी सहस्राब्दी तक सम्पर्क-भाषा और साहित्यिक माध्यम के रूप में प्रसुप्त स्थिति में पड़ी रही जो कि संस्कृत भाषा के सम्बन्ध में जिसका कि भारत में गुप्त युग के दौरान शानदार अभ्युत्थान देखने को मिला, हमारे ज्ञान के बिल्कुल विपरीत पड़ती है। लगभग चौथी ईसवी शती के बाद से बृहत्तर भारत में संस्कृत अभिलेख मिलने लगते हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत-प्राकृत मिश्रित अभिलेखों की भी अच्छी-खासी संख्या मिलती है जो कि उस काल में भारत के एक बड़े भाग पर उक्त दोनों भाषाओं के प्रचलित होने की सूचना देती है। इसलिए यह अभी भी पूरी तरह निर्णीत नहीं है कि क्या उक्त दोनों माध्यम अलग-अलग लोगों द्वारा उपयोग में लाए जाते थे जो कि प्रायः एक दूसरे के सम्पर्क में नहीं आते थे, संस्कृत पढ़े-लिखे और परिष्कृत रुचि के लोगों द्वारा प्रयुक्त होती थी जबकि प्राकृत सामान्य जन-समुदाय के सम्पर्क का माध्यम थी। दोनों प्रकार के लोग दोनों प्रकार के माध्यमों का प्रयोग करते थे। संस्कृत से उद्धृत तत्सम शब्दों के रूप में प्राचीन भारतीय आर्य भाषा-शब्दावली के प्रति इस अपूर्व विरक्ति का यह कारण दिया जा सकता है कि इससे मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा-व्याकरण और उपभाषा-रूपों की अधिक से अधिक शैलीगत विशेषता बनी रहे, पर यह तर्क लचर है, क्योंकि संस्कृत की तुलना में प्राकृत विद्वानों के व्याकरणिक प्रयत्न का परिमाण नगण्य ठहरता है। साहित्य में विशुद्धिवाद इस अपसरण का कारण बताया जा सकता है लेकिन हम उस युग में रचित समस्त बौद्ध संस्कृत और हिन्दू काव्य-साहित्य पर विचार करते हैं तो यह मान्यता भी अप्रामाणिक ठहरती है। यह समस्या अभी भी गहरे अनुसन्धान की अपेक्षा रखती है क्योंकि इस अपूर्व तथ्य का समर्थन गुप्तकाल में

संस्कृत अध्ययन के पुनर्जागरण या ब्राह्मण-धर्म के अभ्युत्थान जैसे सिद्धान्तों से नहीं हो सकता क्योंकि जैसे ही हम आधुनिक भारतीय आर्य साहित्य तक, चाहे वह जैन साहित्य हो या हिन्दू, पहुंचते हैं, उक्त सूत्र टूट जाता है।

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा शब्दावली के सम्बन्ध में दूसरी विशेषता जो साधारण अध्येता को भी भासित हो जाती है, वह है संस्कृत में सामान्य रूप से पाई जाने वाली ध्वनियों के कुछ योगों और कुछ ध्वनियों का बिल्कुल अभाव। तकनीकी रूप से तो ये विशेषताएं स्वन-प्रक्रिया (वर्ण-विन्यास) नाम से अभिहित वर्ग में स्थान पाती हैं जोकि किसी भाषा के स्वनों के साम्य (वर्ण-साम्य) को बताने वाला या अधिक स्पष्ट शब्दों में उन्हें आमने-सामने रख कर परखने वाला एक विज्ञान है। यदि हम पूर्ववर्ती (प्राचीन भारतीय आर्य भाषा) की स्वन-व्यवस्था (वर्ण-संरचना) पर विचार करें तो हम दोनों में पाई जानेवाली साम्य की एक व्यवस्था बना लेंगे जोकि, जहां तक आगत शब्दावली का सम्बन्ध है, हमें सामान्यत: एक वर्ग का दूसरे वर्ग में रचनान्तरित होने के ऐतिहासिक विकास को समझने में सहायक होगी। मध्यकालीन आर्य भाषा की शब्दावली (किसी भाषा की ऐतिहासिक रूप से संवीक्षित शब्दावली की तरह) विभिन्न श्रेणियों में रखी जा सकती है, यथा—(१) सहज विकासात्मक प्रक्रिया के द्वारा सामान्य मूल भाषा से उत्तराधिकार में प्राप्त, (२) मूल भाषा से गृहीत, (३) आगत शब्दों के रूप में सजातीय (उत्पत्ति की दृष्टि से यदि कहा जाए) या असजातीय भाषाओं से गृहीत। जहां तक मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं का सम्बन्ध है, जैसा कि द्वितीय अध्याय में उल्लेख किया जा चुका है, दूसरी श्रेणी का अस्तित्व नहीं बनता। यह प्राय: होता है कि स्वीकृत शब्दावली का पर्याप्त प्रातिनिधिक भाग मूलभाषा की शब्दावली के साथ अपनी स्वन-व्यवस्था (वर्ण-संरचना) में तद्रूप हो सकता है। भारतीय वैयाकरणों में ऐसे शब्दों को तत्सम कहा है। इस तरह 'कर, चरण' शब्द प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में तत्सम की श्रेणी में रखे जाते हैं लेकिन फिर भी शब्दावली का अधिकतर अनुपात स्वन-व्यवस्था (वर्ण-संरचना) मे वैसा तद्रूप नहीं होता, फिर भी दोनों की स्वन-व्यवस्था (वर्ण-संरचना) में साम्य इतने निकट का है कि कुछ उदाहरणों के आधार पर उससे बाद के शब्दों के प्राचीन भण्डार से उत्पन्न होने का पूर्वाभास हो जाता है। इस श्रेणी के शब्द तद्भव कहे जाते हैं यथा मध्यकालीन आर्य भाषा 'विज्जा' < प्राचीन भारतीय आर्य भाषा विद्या, या मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा सेज्जा < प्राचीन भारतीय आर्य भाषा शय्या आदि। तीसरी श्रेणी जिसे परिभाषित किया गया है

भारतीय वैयाकरणों द्वारा वर्गीकृत देशी शब्दों की है। इसलिए यदि हमें प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं और मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं की स्वन-व्यवस्था (वर्ण-सरचना) में विद्यमान अनुरूपता का अध्ययन करना है तो हमें अपने निरूपण को शब्दावली के गृहीत रूपों तक ही सीमित रखना पड़ेगा।

स्वन-प्रक्रिया (वर्ण-विन्यास)

प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में निम्न स्वन-व्यवस्था (वर्ण-व्यवस्था) पाई जाती है:—

स्वर:—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ।

व्यंजन:—क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड़, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह, ळ, (वैदिक, पाली और पैशाची में)

इस स्वन-व्यवस्था (वर्ण-संरचना) में से मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं ने सामान्यतः द्विस्वर सन्ध्यक्षर ऐ, औ नहीं अपनाए हैं, विरल स्वरात्मक लृ प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में केवल क्लिृप् में मिलती है। स्वरात्मक ऋ वैयाकरणों के अपभ्रंश और निया को छोड़ कर सभी मध्यकालीन भारतीय आर्य बोलियों में समाप्त हो चुकी है। नासिक्यों में ङ् और ञ् केवल पालि में, और ड़ पालि, मागधी और निया में भी सुरक्षित है। वैदिक पालि, पैशाची (चूलिका पैशाचिका को सम्मिलित करके) आदि में पाई जाती हैं। तीनों ऊष्म वर्णों—श्, ष्, स् में से उत्तर पश्चिमी प्राकृत को छोड़कर 'श्' (पूर्व में) या 'स्' (दूसरी बोलियों में) बच पाई हैं। निया तथा अन्य पश्चिमोत्तरी प्राकृतों में उक्त तीनों ऊष्म वर्ण सुरक्षित हैं। निया प्राकृत में प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में प्राप्त व्यंजनों के अतिरिक्त संघर्षी ग़, ज़ और द़ भी मिलते हैं।

स्वर: द्विस्वर सन्ध्यक्षर 'ऐ' और 'औ' ने समस्त मध्यकालीन भारतीय आर्य बोलियों में अपने को क्रमशः 'ए' और 'ओ' में—(और आगे चलकर 'इ' और 'उ' में) परिवर्तित कर दिया है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय आर्य भाषा गौतम > गोतम अर्ध मागधी गोयम आदि में, स्वरात्मक ऋ सामान्यतः अ इ या उ (कुछ स्थलों पर र लगा रहता है) में परिवर्तित पाया जाता है। निया प्राकृत में नियमित प्रयोग में 'रि' है जो कि रि, र और ॠ रूप में लिखा जाता है। उदाहरणों की एक बड़ी संख्या के आधार पर विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि ऋ के स्थान में अ का प्रयोग पश्चिम की विशेषता है (गिरनार के अशोकीय अभिलेखों में प्रस्तुत) और इ का प्रयोग खोतान के साथ पश्चिमोत्तर भाग (शहवाजगढ़ी द्वारा प्रस्तुत) की विशेषता है जहां कि 'रि' सामान्यतः

प्रयोग में आती है। उनका प्रयोग विशेष रूप से ओष्ठ्य वर्णों की सन्निधि में तथा बंधुतावादी शब्दावली में पाया जाता है। अवशिष्ट उपभाषाओं में परिवर्तन अधिक सुस्पष्ट नहीं है। कुछ उदाहरण इसे स्पष्ट कर देंगे:

संस्कृत कृत > अशोकीय गिरनार कत; खोतान कट, शहबाजगढ़ी मानसेहरा किट-, धौली-जौगड कट-निया-किड—।

शेष स्वरों की व्यवस्था में परिवर्तन (अ) परिणाम (ब) गुण या दोनों में होने वाले परिवर्तन के आधार पर वर्गीकृत किया जा सकता है। मध्यकालीन आर्य-भाषाओं की यह सामूहिक विशेषता है कि अनुस्वार या द्विरवभूत व्यंजनों की निकटता में दीर्घस्वर ह्रस्व हो जाता है। इस प्रकार संस्कृत शास्ता-पालि सत्था, या संस्कृत सीताम्-प्राकृत सीयम्। यदि मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं का मेल प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं की 'मात्रा' के अनुरूप लगता है तो यह परिणाम और गुण दोनों के परिवर्तन का उदाहरण है। तुलनात्मक अध्ययनकर्त्ता वैयाकरणों की दृष्टि में इस परिवर्तन का कारण प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में 'मित्र' जैसे शब्द के साथ सम्मिश्रण ठहरता है। गुण-परिवर्तन का केवल उदाहरण प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं के 'मध्यम' के साथ मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के 'मज्झिम' के सादृश्य में देखने में मिलता है साधारण तौर पर आदि अक्षर में परिवर्तन गुण के आधार पर होता है। इस नियम के अपवाद का स्पष्टीकरण तुलनात्मक व्याकरण से हो जाता है। उदाहरण के तौर पर मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में 'मेट्ट' का प्राचीन भारतीय आर्य भाषा 'मात्र' की अपेक्षा भारोपीय 'मैत्रम्' के साथ सीधा सम्बन्ध हो सकता है (जहां से प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का 'मात्र' उद्गत हुआ है) ऐसे उदाहरणों में द्विरवभूत ट्ट से पूर्व मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं का ए भारोपीय से निकला है। इस प्रकार के स्पष्टीकरण तुलनात्मक भाषा-वैज्ञानिकों के ऊपर छोड़ कर हम मुख्यतः मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं की सामान्य विशेषताओं तक ही अपने को सीमित कर लेंगे। गुणात्मक परिवर्तन को विशेष जांच-पड़ताल और अलग-अलग व्याख्या की अपेक्षा होती है जो कि उन शब्दों की अपनी निजी विशेषताओं पर निर्भर होते हैं।

व्यंजन : व्यंजनों पर ध्यान देने पर मध्यकालीन आर्य भाषाओं की कुछ विशेषताएं देखने में आती हैं जो कि उसकी उप भाषाओं को प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं से पृथक् करती हैं। पहली बात तो यह है कि सभी मध्यकालीन भारतीय आर्य शब्दों के अन्त में स्वर आते हैं। यह काम पूरा उतरता है या तो प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं के अंतिम व्यंजनों का परित्याग करके—यथा विद्युत > विज्जु के, या अन्तिम व्यंजन में स्वर को संयुक्त करके यथा शरद् > सरद

में—। एक बिल्कुल सामान्य नियम के रूप में हम यह देखते हैं कि सभी एकाकी व्यंजन अपरिवर्तित रहते हैं, केवल मुख्य अपवाद न्, य्, श् और ष् हैं। सभी व्याकरण-परिभाषित प्राकृतों में जो संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त होती हैं न्>ण् में बदल जाता है (लेकिन बौद्ध नाटकों के प्राप्त अंशों में नहीं) तथा मागधी को छोड़ कर य्, ज् बन जाता है। यहां तीनों ऊष्म वर्णों का अन्तर मिट चुका है, सभी स्थितियों में श् और ष् दन्त्य स् में या मागधी में उक्त तीनों श् में परिवर्तित होते हैं। कुछ विशेष परिवर्तन जैसे प्रतिवेष्टन, महाप्राणता आदि देखने में आते हैं वे अपनी व्याख्या के लिए तुलनात्मक व्याकरण की अपेक्षा रखते हैं। इन अपवादों के उदाहरण हैं:—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा नयोति>पालि नेति, प्राकृत णेइ, प्राचीन भारतीय आर्य भाषा 'यथा', शौरसेनी—'जया', मागधी, यथा, प्राचीन भारतीय आर्य भाषा श्रामक, अशोकीय श्रवक, गाथा सवापक, खोतानी सावक-आदि।

शब्दों की अन्य स्थितियों से सम्बद्ध व्यंजन-समुदाय के परिवर्तनों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि व्यंजन-व्यवस्था के आरम्भिक तकनीकी पक्ष के भीतर प्रवेश किया जाय। व्यंजन निम्न वर्गों में विभाजित होते हैं:— (क) स्पर्श व्यंजन जिनमें क्, ख्, ग्, घ्, च्, छ्, ज्, झ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, त्, थ्, द्, ध्, प्, फ्, ब्, भ्, (ख) अनुनासिक व्यंजन—ङ्, ञ्, ण्, न्, म्, (ग) अन्तःस्थ व्यंजन—य्, र्, ल्, व्, (घ) ऊष्म व्यंजन—श्, ष्, स्, महाप्राण व्यंजन ह्। स्पर्श व्यंजनों का फिर निम्न रूपों में विभाजन होता है— (अ) सघोष व्यंजन ग्, घ्, ज्, झ्, ड्, ढ्, द्, ध्, ब्, भ् (आ) अघोष :— क् ख्, च्, छ्, ट्, ठ्, त्, थ्, प्, फ्, (स) अल्पप्राण—क्, ग्, च्, ज्, ट्, ड्, त्, द्, प्, ब्, और महाप्राण :—ख् घ् छ्, झ्, ठ्, ढ्, थ्, ध्, फ्, भ्। इस व्यवस्था का स्वनिक पक्ष (वर्णनात्मक लक्षण) शब्दों द्वारा स्वतः व्याख्यात होता जाता है। इस प्रकार जब प्राण वायु वाग्यंत्र द्वारा बाहर निकलती है (निकाली जाती है) और विशेष ध्वनि उत्पन्न होती है, हम श्वासप्रणाली में किसी व्यवधान की अनुपस्थिति या उपस्थिति के आधार पर स्वर और व्यंजन का भेद करते हैं। यह व्यवधान श्वास के अवरोध का रूप लेता है, यह अवरोध पूरा या अधूरा दोनों ही हो सकता है और इससे व्यंजनों में स्पर्श वर्णों से लेकर सीधे स्वरों तक अनुश्रुतियां पाई जाती हैं और इससे वह स्थान जहां श्वास उत्पन्न होता है कंठ्य, तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य, ओष्ठ्य जैसी श्रेणियों को निर्धारित करता है। इनके कारण भारतीय आर्यों में बहुत सी मध्यवर्ती श्रेणियां और बनती हैं जिनका हमारे इस वर्तमान अध्ययन से कोई सरोकार नहीं। स्पर्श वर्णों की विशेषता यह है कि उनके उच्चारण के समय मुख-

विवर के किसी भाग में प्राण वायु बिल्कुल रुक जाती है। उस समय नासिका-रन्ध्र भी अवरुद्ध रहता है और इसके बाद अवरुद्ध प्राण वायु के निकलने के लिए मार्ग मिलता है। मार्ग अवरुद्ध होने की क्रिया को पारिभाषिक पदावली में अन्तःस्फोट कहते हैं और मार्ग के खुलने को बहिःस्फोट कहते हैं तथा इससे जो ध्वनि उत्पन्न होती है उसे स्पर्श कहते हैं। जब घोषतंत्री में कम्पन नहीं होता तब जो स्पर्शवर्ण उत्पन्न होते हैं, अघोष कहलाते हैं और जब वे कम्पित होते हैं तब घोष स्पर्श वर्ण उत्पन्न करते हैं। सभी स्वर घोष होते हैं बिल्कुल उसी तरह जैसे कि अन्तःस्थ या अनुनासिक। जबकि मुख-विवर बन्द रहता है और नासिका-विवर खुला रहता है, उस समय व्यंजनों की जो श्रेणी उत्पन्न होती है, अनुनासिक कही जाती है। उच्चारण के समय मुख-विवर बिल्कुल खुला रहने के कारण अन्तःस्थ स्वरों की विशेषता अपनाते हैं लेकिन जिह्वा और होठों से उनका नियंत्रण भी किया जाता रहता है। मुख-विवर का बहुत थोड़ासा मार्ग खुले रहने से ऊष्म वर्ण उत्पन्न होते हैं। प्राण वायु स्वयं जिह्वा के द्वारा बनाए मार्ग से सीटी की आवाज बनाती हुई निकलती है, तब ऊष्मवर्ण उत्पन्न होते हैं। जब स्पर्श वर्ण के साथ दीर्घश्वास (अधिक मात्रा वाला श्वास) सम्बद्ध होता है तब वह महाप्राण हो जाता है।

ध्वनि-प्रक्रिया के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाएगा कि स्वरों के मध्य जिनके उच्चारण में कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता और स्पर्श वर्णों के मध्य जिनके उच्चारण के लिए विशेप प्रयत्न की आवश्यकता पड़ती है जो कि मुख-विवर के बन्द होने में अन्तःस्फोट और बहिःस्फोट के रूप में दीख पड़ता है (जिसे पारिभाषिक पदावली में स्पर्श कहते हैं), वहां उच्चारण में अधिक से अधिक प्रयत्न की अपेक्षा के कारण कठिनाई प्रस्तुत करने वाले ध्वनियों की वर्गीकृत श्रेणी मिलती है। पदार्थ की जड़ता की तरह ऐसे विषयों में मनुष्यों की स्वाभाविक वितृष्णा कम से कम प्रतिरोध करती है। यही सामान्य प्रवृत्ति प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं के स्तर से मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के मंद विकास में देखी जाती हैं और यह बात दोनों में पाए जाने वाली संवादिता से स्पष्ट हो जाती है।

प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के आद्य और अंतिम व्यंजनों (एकाक्षरी) के बीच वर्तमान संवादिताओं पर हम विचार कर चुके हैं। इसलिए किसी शब्द के मध्य एकाक्षरी व्यंजन के लिए तीसरी अवस्था अप्राथमिक और अन्तिम होती है। तकनीकी रूप से ऐसी स्थिति दो स्वरों के बीच स्थित होने के कारण अन्तः-स्वरात्मक कही जाएगी क्योंकि आरम्भिक

में—। एक बिल्कुल सामान्य नियम के रूप में हम यह देखते हैं कि सभी एकाकी व्यंजन अपरिवर्तित रहते हैं, केवल मुख्य अपवाद न्, य्, श् और ष् हैं। सभी व्याकरण-परिभाषित प्राकृतों में जो संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त होती हैं न् > ण् में बदल जाता है (लेकिन बौद्ध नाटकों के प्राप्त अंशों में नहीं) तथा मागधी को छोड़ कर य्, ज् बन जाता है। यहां तीनों ऊष्म वर्णों का अन्तर मिट चुका है, सभी स्थितियों में श् और ष् दन्त्य स् में या मागधी में उक्त तीनों श् में परिवर्तित होते हैं। कुछ विशेष परिवर्तन जैसे प्रतिवेष्टन, महाप्राणता आदि देखने में आते हैं वे अपनी व्याख्या के लिए तुलनात्मक व्याकरण की अपेक्षा रखते हैं। इन अपवादों के उदाहरण हैं:—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा नयोति > पालि नेति, प्राकृत णेइ, प्राचीन भारतीय आर्य भाषा 'यथा', शौरसेनी—'जया', मागधी, यधा, प्राचीन भारतीय आर्य भाषा श्रामक, अशोकीय श्रवक, गाथा सवापक, खोतानी सावक-आदि।

शब्दों की अन्य स्थितियों से सम्बद्ध व्यंजन-समुदाय के परिवर्तनों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि व्यंजन-व्यवस्था के आरम्भिक तकनीकी पक्ष के भीतर प्रवेश किया जाय। व्यंजन निम्न वर्गों में विभाजित होते हैं:—(क) स्पर्श व्यंजन जिनमें क्, ख्, ग्, घ्, च्, छ्, ज्, झ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, त्, थ्, द्, ध्, प्, फ्, ब्, भ्, (ख) अनुनासिक व्यंजन—ङ्, ञ्, ण्, न्, म्, (ग) अन्तःस्थ व्यंजन—य्, र्, ल्, व्, (घ) ऊष्म व्यंजन—श्, ष्, स्, महाप्राण व्यंजन ह्। स्पर्श व्यंजनों का फिर निम्न रूपों में विभाजन होता है—(अ) सघोष व्यंजन ग्, घ्, ज्, झ्, ड्, ढ्, द्, ध्, ब्, भ् (आ) अघोष :—क् ख्, च्, छ्, ट्, ठ्, त्, थ्, प्, फ्, (स) अल्पप्राण—क्, ग्, च्, ज्, ट्, ड्, त्, द्, प्, ब्, और महाप्राण :—ख् घ् छ्, झ्, ठ्, ढ्, थ्, ध्, फ्, भ्। इस व्यवस्था का स्वनिक पक्ष (वर्णनात्मक लक्षण) शब्दों द्वारा स्वतः व्याख्यात होता जाता है। इस प्रकार जब प्राण वायु वाग्यंत्र द्वारा बाहर निकलती है (निकाली जाती है) और विशेष ध्वनि उत्पन्न होती है, हम श्वासप्रणाली में किसी व्यवधान की अनुपस्थिति या उपस्थिति के आधार पर स्वर और व्यंजन का भेद करते हैं। यह व्यवधान श्वास के अवरोध का रूप लेता है, यह अवरोध पूरा या अधूरा दोनों ही हो सकता है और इससे व्यंजनों में स्पर्श वर्णों से लेकर सीधे स्वरों तक अनुश्रुतियां पाई जाती हैं और इससे वह स्थान जहां श्वास उत्पन्न होता है कंठ्य, तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य, ओष्ठ्य जैसी श्रेणियों को निर्धारित करता है। इनके कारण भारतीय आर्यों में बहुत सी मध्यवर्ती श्रेणियां और बनती हैं जिनका हमारे इस वर्तमान अध्ययन से कोई सरोकार नहीं। स्पर्श वर्णों की विशेषता यह है कि उनके उच्चारण के समय मुख-

विवर के किसी भाग में प्राण वायु बिल्कुल रुक जाती है। उस समय नासिका-रन्ध्र भी अवरुद्ध रहता है और इसके बाद अवरुद्ध प्राण वायु के निकलने के लिए मार्ग मिलता है। मार्ग अवरुद्ध होने की क्रिया को पारिभाषिक पदावली में अन्तःस्फोट कहते हैं और मार्ग के खुलने को बहिःस्फोट कहते हैं तथा इससे जो ध्वनि उत्पन्न होती है उसे स्पर्श कहते हैं। जब घोषतंत्री में कम्पन नहीं होता तब जो स्पर्शवर्ण उत्पन्न होते हैं, अघोष कहलाते हैं और जब वे कम्पित होते हैं तब घोष स्पर्श वर्ण उत्पन्न करते हैं। सभी स्वर घोष होते हैं बिल्कुल उसी तरह जैसे कि अन्तःस्थ या अनुनासिक। जबकि मुख-विवर बन्द रहता है और नासिका-विवर खुला रहता है, उस समय व्यंजनों की जो श्रेणी उत्पन्न होती है, अनुनासिक कही जाती है। उच्चारण के समय मुख-विवर बिल्कुल खुला रहने के कारण अन्तःस्थ स्वरों की विशेषता अपनाते हैं लेकिन जिह्वा और होठों से उनका नियंत्रण भी किया जाता रहता है। मुख-विवर का बहुत थोड़ासा मार्ग खुले रहने से ऊष्म वर्ण उत्पन्न होते हैं। प्राण वायु स्वयं जिह्वा के द्वारा बनाए मार्ग से सीटी की आवाज बनाती हुई निकलती है, तब ऊष्मवर्ण उत्पन्न होते हैं। जब स्पर्श वर्ण के साथ दीर्घश्वास (अधिक मात्रा वाला श्वास) सम्बद्ध होता है तब वह महाप्राण हो जाता है।

ध्वनि-प्रक्रिया के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाएगा कि स्वरों के मध्य जिनके उच्चारण में कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता और स्पर्श वर्णों के मध्य जिनके उच्चारण के लिए विशेष प्रयत्न की आवश्यकता पड़ती है जो कि मुख-विवर के बन्द होने में अन्तःस्फोट और बहिःस्फोट के रूप में दीख पड़ता है (जिसे पारिभाषिक पदावली में स्पर्श कहते हैं), वहां उच्चारण में अधिक से अधिक प्रयत्न की अपेक्षा के कारण कठिनाई प्रस्तुत करने वाले ध्वनियों की वर्गीकृत श्रेणी मिलती है। पदार्थ की जड़ता की तरह ऐसे विषयों में मनुष्यों की स्वाभाविक वितृष्णा कम से कम प्रतिरोध करती है। यही सामान्य प्रवृत्ति प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं के स्तर से मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के मंद विकास में देखी जाती है और यह बात दोनों में पाए जानी वाली संवादिता से स्पष्ट हो जाती है।

प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के आद्य और अंतिम व्यंजनों (एकाक्षरी) के बीच वर्तमान संवादिताओं पर हम विचार कर चुके हैं। इसलिए किसी शब्द के मध्य एकाक्षरी व्यंजन के लिए तीसरी अवस्था अप्राथमिक और अन्तिम होती है। तकनीकी रूप से ऐसी स्थिति दो स्वरों के बीच स्थित होने के कारण अन्तः-स्वरात्मक कही जाएगी क्योंकि आरम्भिक

स्थिति में एकाक्षरी व्यंजन किसी अक्षर का प्रथम और अन्तिम स्थिति में आखिरी घटक है। यदि ध्वनि के प्रक्रियात्मक पहलू पर गौर किया जाए तो दो स्वरों के बीच स्पर्श-व्यंजन के उच्चारण में उसकी सही विशेषता बनाए रखने के लिए विशेष प्रयत्न अपेक्षित होता है। और यह प्रयत्न अघोष स्पर्श वर्णों के उच्चारण में अधिकतम घोष स्पर्श वर्णों के उच्चारण में उससे कम तथा महाप्राण एवं स्पर्श-संघर्षी वर्णों के उच्चारण में और भी कम होता है। अन्त में स्वरीकरण की स्थिति में स्पर्श वर्ण अपनी विशेषता को बिल्कुल छोड़ देते हैं। मध्यकालीन भारतीय आर्य बोलियों का तुलनात्मक अध्ययन, जैसे-जैसे कालक्रम की दृष्टि से हम आगे बढ़ते हैं, इन सब संवादिताओं को प्रदर्शित कर देता है।

अशोक के अभिलेखों और पालि में प्राप्त सर्वप्रथम अवस्था स्वर-मध्यवर्ती स्पर्श वर्णों को बनाए रखने के पक्ष में है बशर्ते कि बोली की सामान्य प्रकृति अक्षुण्ण रहे (अर्थात् प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं की तुलना में मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में पूर्वी भाग में श् तथा अन्यत्र स् व्यंजनों की संख्या पर नियंत्रण रखते हैं और इस अवरोध का मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा की विशेष बोली में व्यंजनात्मक स्वनों की संख्या से सम्बन्ध रहता है) परन्तु यह अवरोधन निरपेक्ष नहीं होता। वहां घोष वर्णों के अवशेष भी देखने में आते हैं, यथा :—

आर्य भाषा अधिगिच्य <प्राचीन भारतीय आर्य भाषा अधिकृत्य या वाडिका, वाडिक्या <प्राचीन भारतीय आर्य भाषा वाटिका, परन्तु ये अपवाद कहे जा सकते हैं, सामान्य नियम नहीं। यही स्थिति ईसापूर्व तृतीय शती से लगभग दूसरी या तीसरी ईसवी शती तक अन्य प्राकृत अभिलेखों के विषय में देखने को मिलती है। बौद्ध नाटकों के पाये जाने वाले खण्डित संस्करणों में अब भी स्वर मध्यवर्ती अघोष वर्णों को धारण किए हैं। दूसरी ओर तीसरी ईसवी शती के निया दस्तावेज़ न केवल क्, च्, ट्, त्, प्, श्, स् और सम्भवतः ष् के घोषत्व को बल्कि ग्, ज्, द्, की महाप्राणता को भी प्रदर्शित करते हैं। अन्तिम प्रक्रिया से दन्त्य वर्णों की अनुपस्थिति पर ध्यान दीजिए। गाथात्मक महाराष्ट्री में अधिकतर ये स्वर—मध्यवर्ती स्पर्श वर्ण अपनी स्पर्शता का पूर्णतः परित्याग कर देते हैं। इस प्रकार कवि, कति, कपि आदि के स्थान पर 'कइ' प्राप्त होता है। शौरसेनी मागधी की तरह स्वर–मध्यवर्ती त् आदि को द् के रूप में बनाए रहती है जबकि अवशिष्ट अन्तर्मध्यवर्ती स्पर्श व्यंजन अपनी स्पर्शता छोड़ देते हैं। यह कृत्रिम ध्वनि-विकासात्मक भिन्नता, एक ओर या तो उनका महाराष्ट्री से सम्बन्ध है या दूसरी ओर मागधी या

शौरसेनी से, इस रूप में शब्दों के भेद प्रदर्शित करती है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का गच्छति अशोक के तथा अन्य प्राचीन अभिलेखों तथा पालि एवं अश्वघोष के नाटकों में गच्छति रूप में ही पाया जाता है। लेकिन शौरसेनी और मागधी में उसका संवादी रूप, गच्छदि या गश्चदि होगा तथा महाराष्ट्री में यही रूप और घटकर गच्छइ हो जाता है। यह मध्यवर्ती रूप गच्छदि से होता है जहां द् संघर्षी है और स्पर्श द् से मिलता है।

महाप्राण स्पर्श वर्णों के सम्बन्ध में भी वही प्रक्रिया देखने को मिलती है, परिणामस्वरूप उनकी स्पर्शता जाती रहती है केवल महाप्राणता बच रहती है जैसे मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा अथ > शौरसेनी अर्ध > महाराष्ट्री अह। स्पर्शता का यह लोप धीरे-धीरे घोषीकरण एवं संघर्षीकरण के कारण होता है।

कुछ छिटपुट उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जिनमें परस्पर विरोधी प्रवृत्तियां देखने को मिलती हैं। पैशाची की विशेषता के रूप में कुछ ऐसे उदाहरण प्रस्तुत हैं जिनमें आरम्भिक एवं स्वर-मध्यवर्ती अवस्थाओं में घोष दन्त्यवर्णों का अघोषीकरण देखने में आता है: तामोतर > प्राचीन भारतीय आर्य भाषा दामोदर, तातिस < तादृश आदि। इस प्रकार के कई उदाहरण पालि, अशोक के अभिलेखों या निया दस्तावेजों में मिलते हैं: पालि मुतिंग < प्रा. भा. आ. मृदंग—, अशोक अभिलेख कम्बोच < प्राचीन भारतीय आर्यभाषा कम्बोज, निया, (केवल आरम्भिक वर्णों के लिए) चनति ≤ जनति। आरम्भिक अघोषीकरण द्रविड़-परिवार की भाषाओं की भी विशेषता है। पैशाची और निया को छोड़ कर इस प्रकार के उदाहरण अत्यन्त विरल हैं।

संयुक्त (स्थानाश्रित) व्यंजनों की बहुलता प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की एक प्रमुख विशेषता है—जहां प्रत्येक व्यंजन सुश्रवता के सामान्य नियमानुसार या तो प्रथम या दूसरे घटक के रूप में अनेक अन्य व्यंजनों से संयुक्त होता है। इस प्रकार अघोष स्पर्श वर्ण अघोष स्पर्श के या सघोष स्पर्श वर्ण सघोष स्पर्श के साथ ही संयुक्त हो सकता है। इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप से स्पर्श-वर्णों में क् केवल ख्, च् केवल छ् ट् केवल ठ्, त् केवल थ् तथा प् केवल फ् के साथ और उसी प्रकार ग् सघोष वर्णों के साथ यथा ग् घ् के साथ, ज् झ् के साथ, ड् ढ् के साथ द् ध् के साथ तथा ब् 'भ' के साथ संयुक्त हो सकता है। नासिक्य किसी स्पर्श वर्ण के साथ संयुक्त हो सकते हैं जबकि अर्ध स्वर स्पर्श वर्णों की पूरी व्यवस्था एवं नासिक्य वर्णों के साथ तथा ऊष्म वर्ण सभी पूर्ववर्ती स्वनों के साथ संयुक्त किए जा सकते हैं। सैद्धान्तिक रूप से सम्भव इन सभी वर्गों में से प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में समस्त वर्ग नहीं मिलते।

प्रा. भा. आ. तथा म. भा. आ. के व्यंजन-गुच्छों के बीच वर्तमान संवादों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उत्पन्न होने के लिए अपेक्षित शारीरिक प्रयत्नों पर सामान्यतः आधारित व्यंजनों की शक्ति का पुनः कथन किया जाए: (क) स्पर्श, (ख) नासिक्य (ग) ल्, स् (श् और ष् को मिला कर) व् य् र्। प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के बीच संवादिताओं का अध्ययन यह प्रदर्शित करता है कि धीरे धीरे प्रा. भा. आ. के विभिन्न व्यंजन-गुच्छों ने अपने को म. भा. आ. में समीकरण के द्वारा द्वित्वीकृत व्यंजन के रूप में परिणत कर दिया है—यथा—क्क्, क्ख्, गग्, ग्घ्, ज्ज्, ज्झ्, ट्ट, ट्ठ, ड्ड, ड्ढ, त्त् त्थ्, द्द, द्घ्, प्प्, प्फ्, ब्ब्, ब्भ्, ञ्ञ्, ण्ण्, न्न्, म्म्, न्ह्,, > न्ह्,,म्ह् > म्ह्, य्य्, ल्ल् स्स्, श्श् व्व्, ल्ल्ह् > ल्ह्,। यह समीकरण दो प्रकार का होता है : पुरः समीकरण : यथा प्रा. भा. आ. में मुक्त-म. भा आ. मुक्क । वस्तुतः प्रा. भा. आ. मुक्त जहां प्रथम दूसरे को रूपान्तरित करता है, या पश्च समीकरण यथा प्रा. भा. आ. भक्त—म. भा. आ. भत्त जहां दूसरा प्रथम को परिवर्तित करता है। प्रा. भा. आ. में एक तीसरा प्रकार भी देखने में आता है जिसे अन्योन्य समीकरण कहते हैं, यथा रुद्ध < रुध् त-लेकिन इसके स्पष्ट उदाहरण म. भा. आ. में नहीं मिलते । प्रा. भा. आ. और म. भा. आ. में वर्तमान वास्तविक संवादिताओं के अध्ययन से जो सामान्य नियम निकलता है उसके अनुसार प्रा. भा. आ, में समान शक्तिशाली दो व्यंजन-समूहों के स्थान पर म. भा. आ. में द्वितीय व्यंजन को द्वित्व करके प्रस्तुत किया जाता है तथा म. भा. आ. के असमान शक्ति वाले दो व्यंजन समूहों में से अधिक शक्ति वाले व्यंजन को द्विगुण कर दिया जाता है। यथा भक्त 7 भत्त, मत्कुण-—7 मक्कुण आदि, लग्न 7 लग्ग, जन्मन् 7 जम्म, उन्माद 7 उम्माद—, आदि, पश्यति 7 पस्सति, बिल्व 7 बिल्ल, सर्व 7 सव्व या पूर्व में सव्व,—आदि । यह नियम कुछ बोली-संबंधी विशेषताओं के साथ मिलते हैं वैसे व्यंजन-गुच्छों के लिए आद्य स्थिति और स्वर-मध्यवर्ती स्थिति में ठीक उतरती है। इस सम्बन्ध में यहां प्रमुख बाधक प्रवृत्ति स्वरभक्ति ठहरती है—यथा: श्री 7 सिरी, ह्री 7 हिरी, आदि । इसी प्रकार *तालव्य व्यंजनों पर दन्त्य व्यंजनों से प्रभावित समीकारक-* प्रक्रम—(विद्या 7 विज्जा, द्योतते 7 जोइइ) या ऊष्म व्यंजनों की उपस्थिति से प्रयोजित महाप्राणत्व— (हस्त 7 हत्थ, इष्ठा 7 इट्ठा, पश्चात् 7 पच्छा, वत्स 7 वच्छ, पक्ष 7 पक्ख, आदि) म. भा. आ. के ये प्राय: सर्वव्यापी नियम हैं। पूर्व को छोड़कर लगभग सर्वत्र प्रा. भा. आ. में बोली की दृष्टि से र्व् या व्र् व्व् में (अशोक के अभिलेखों में साक्षीकृत नहीं हैं। तथा पालि में नियमतः व्व् में परिवर्तित हो जाते हैं—(पूर्व 7 पुव्व, कुर्वन्ति 7 कुव्वन्ति आदि) । तालव्य-

व्यंजन के सम्बन्धी नियम के समान प्रतिवेष्टन (Retroflexion, मूर्धन्यीकरण) का भी नियम है, परन्तु उक्त नियम के उदाहरण कहीं अधिक सीमित हैं।

जबकि प्रा. भा. आ. में व्यंजन-गुच्छों में दो से अधिक व्यंजन होते हैं तो वे (१) नासिक्य, अर्ध स्वर या ऊष्म स्पर्श अन्तःस्थ या (२) स्पर्श ऊष्म अन्तःस्थ का रूप लेते हैं, यथाः (१) चन्द्र, ऊर्ध्व, राष्ट्र, या (२) उत्स आदि। म. भा. आ. के उनके संवादी उक्त भाषा में स्पर्श व्यंजनों द्वारा समस्त वर्ग का समीकरण प्रदर्शित करते हैं, यथा चन्द, उद्ध, रट्ठ आदि। म. भा. आ की तरह यहां प्रतिवेदन तथा तालव्य रंजन के नियम भी लागू होते हैं, यथा—उड्ढ या उब्भ—प्रा. भा. आ. ऊर्ध्व। यहां भी व्यंजन-समूह में जो सर्वाधिक शक्तिशाली होता है वह दुर्बल व्यजनों को समीकरण कर लेता है।

फिर भी यह ध्यान रखना चाहिए कि यह समस्वरता या व्यंजन-गुच्छों का समीभवन किसी विशेष काल में उसी क्षेत्र में भी नहीं हो पाया। उदाहरण के रूप में हम देखते हैं कि अशोक के उत्तर पश्चिमी अभिलेखों तथा धर्म-वैधानिक पालि में भी र् सहित व्यंजन-गुच्छ सुरक्षित हैं जबकि अवशिष्ट (व्यंजन-) वर्गों का समीकरण के कारण अपचय हो गया है।

प्रा. भा. आ. तथा म. भा. आ. में वर्तमान ध्वनि-प्रक्रियात्मक संवादिताओं का उपर्युक्त संक्षिप्त वर्णनात्मक सर्वेक्षण प्रदर्शित करता है कि किस तरह प्रा. भा. आ. की ध्वनि प्रक्रियात्मक समृद्ध संरचना छिन्न-भिन्न हो गई और म. भा. आ. में परिसीमित रह गई और उसने शब्दों के इतिहास को जटिल बना दिया, यथाः म. भा. आ. में सत्त—जोकि प्रा. भा. आ. के सक्त, शक्त, सत्व, सप्त, शप्त आदि से संवादिता रख सकता है। इस ध्वनि-प्रक्रियात्मक पहलू की विस्तृत शाखा-प्रशाखाओं पर यहां विचार नहीं किया गया है जो कि तुलनात्मक व्याकरण का एक प्रमुख विभाग है। विकास की प्रमुख दिशाएँ जो ऊपर प्रदर्शित की जा चुकी हैं, म. भा. आ. की शब्दावली की प्रमुख विशेषताओं को (जो म. भा. आ. ने प्रा. भा. आ. से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त की हैं,) समझने के लिए पर्याप्त होंगी। हमने इसलिए म. भा. आ. ने जो समृद्ध शब्दावली भारतीय अनार्य भाषावर्ग से ग्रहण की है, उस पर विचार नहीं किया है।

यथार्थ संघटन या साहित्यिक कृतियों में प्राप्त इस शब्दावली के परिणाह पर ध्यान देने पर हम यह पाते हैं कि सरलीकरण की प्रक्रिया ने जो शब्दों के रूप को प्रभावित किया है, म. भा. आ. की रूप-प्रक्रिया को भी प्रभावित किया है।

शब्दरूप-प्रक्रिया

हमें स्वभावतः दो प्रमुख व्यवस्थाओं—प्रतिपादिक और धातु को ध्यान में रखना पड़ेगा। संज्ञा, सर्वनाम और संख्यावाचकों के सम्बन्ध में जिनका प्रथम व्यवस्था से सम्बन्ध है, हमने पहले ही यह देख लिया है कि म. भा. आ. में सभी शब्दों का अन्त स्वरों से होता है। इसलिए प्रा. भा. आ. की समृद्ध प्रतिपादिक रूपात्मक व्यवस्था केवल स्वरान्त प्रकार में ही सीमित होकर रह गई है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उक्त प्राचीन व्यवस्था बिल्कुल टूट गई। क्योंकि म. भा. आ. ने प्रा. भा. आ. से अपनी व्याकरण की कमी पूरी कर ली है फलतः दोनों आरंभिक और उत्तरवर्ती म. भा. आ. में प्राचीन रूप बचे देखे जाते हैं, किन्तु सादृश्य-नियम जिनके आधार पर प्रा. भा. आ. की समृद्ध रूप-प्रक्रियात्मक व्यवस्था का सदृशीकरण चल रहा था पर, वह म. भा. आ. से व्युत्पन्न प्रातिपदिकों को मानकीकृत रूप दे रहा था तथा धीरे-धीरे ऐतिहासिक रूप से व्युत्पन्न रूपों को मिटाता चल रहा था। इस प्रकार बौद्ध संस्कृत में जो भिक्षुस्य रूप मिलता है, वह वही प्रकार है जो कि ऐतिहासिक रूप से व्युत्पन्न भिक्षोः को दूर हटा देता है जैसा कि अन्य म. भा. आ. बोलियों में देखा जाता है।

पहली बात जो हमें फिर से ध्यान में रखनी है वह है म. भा. आ. की रूप प्रक्रिया में द्विवचन का पूर्ण अभाव, केवल एकवचन और बहुवचन ही जीवित हैं। लिंग तीनों ही मिलते हैं। संख्या में विभक्ति रूपात्मक कारक बहुत घट गए हैं। चतुर्थी विभक्ति ने अपने को षष्ठी में विलीन कर दिया है, केवल जहां-तहां कुछ ऐतिहासिक अवशेष उपलब्ध होते हैं। उत्तरवर्ती म. भा. भा. में तृतीया सप्तमी में विलीन हो गयी है। अधिसंख्य प्रातिपदिक (१) अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त रूप में पुल्लिंग और नपुंसक लिंग में तथा आकारान्त, इकारान्त, उकारान्त और (२) ऊकारान्त में रूप स्त्रीलिंग में बचे मिलते हैं।

विभक्तिप्रत्ययः

म. भा. आ. में विभक्ति प्रत्यय बहुत कुछ उसी स्वन प्रक्रियात्मक परिवर्तन के अधीन होते हैं जो शब्द के सामान्य रूप को प्रभावित करता है। इसलिए इस बात की हमेशा सम्भावना है कि प्रा. भा. आ. के दो विभिन्न विभक्ति-प्रत्यय म० भा आ० के एक ही विभक्ति-प्रत्यय की ओर अभिमुख हो जाएं तथा उन स्थानों पर गड़बड़ी पैदा करदे जहाँ पहले सब कुछ स्पष्ट था। इस तरह प्रा० भा० आ० के पुत्रात् और पुत्राः—अपादान और कर्ता कारक बहुवचन म० भा० आ० में पुत्त या पुत्ता का रूप धारण करते हैं और जब तक कि प्रकरण बिल्कुल स्पष्ट नहीं, उनका अर्थ लगाना कठिन हो जाता है। इस मुसीबत से छुटकारा पाने के लिए म० भा० आ० ने विभक्तिः

प्रत्ययों का विस्तार करके या प्रतिनिधि विभक्ति-प्रत्यय के अभिलक्षणों को समाविष्ट करके कुछ नवप्रवर्तन किए हैं जो कि अपने क्रम-विकास में भिन्न और इसीलिए म. भा. आ. में सामान्य परिणामी से अलग ठहरते हैं। इस प्रकार पालि ने प्रा. भा. आ. की सार्वनामिक व्यवस्था से 'स्मात्' विभक्ति-प्रत्यय अपनाया है, फलत: निम्नलिखित तीन रूप मिलते हैं : 'धम्मा', 'धम्मस्मा', 'धम्मम्हा', दूसरी ओर अशोक के अभिलेखों एवं बौद्ध नाटकों (खण्डों में प्राप्त) की अनामक प्राकृत बोली में विस्तारित–(आ । ई । ऊ) पाया जाता है। इसी प्रकार जब पालि में कर्म बहुवचन एवं अधिकरण एकवचन समान लगते हैं, यथा 'धम्मे' में, इस कठिनाई से मुक्ति पाने के लिए पालि ने सार्वनामिक 'स्मिन्' को अपनाया : 'धम्मे', इसके अतिरिक्त 'धम्मस्मि' या 'धम्मम्हि'। इस प्रकार ध्वन्यात्मक विकास के द्वारा जो हमने खोया था उसे विस्तार या नये विभक्ति-प्रत्ययों के आदेश से पूरा कर लिया।

विभक्ति-प्रत्ययों की कुछ संख्या ऐसी भी हैं जो संज्ञाओं के पूरे समूह को इसका लिहाज़ किए बिना कि वे पुल्लिग, नपुंसक या स्त्रीलिंग हैं या उनके अन्त में आ, ई या ऊ है, विशेषता प्रदान करती है। यदि हम उन्हें यहां समझ लें तो म. भा. आ. के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान स्पष्ट हो जाएगा। वे विभक्ति प्रत्यय हैं:—

द्वितीया एक वचन :	(म्) (केवल ईकारान्त या ऊकारान्त नपुंसक लिंगों में वैकल्पिक)
तृतीया और पञ्चमी बहुवचन :	हि (जिसके पूर्व अ>ए या अन्य स्वर यदि ह्रस्व हों तो दीर्घ किए गए हों)
सप्तमी बहुवचन :	सु (जिसके पूर्व अ>ए या अन्य स्वर यदि ह्रस्व हों तो दीर्घ किए गए हों
षष्ठी बहुवचन :	नं (जिसके पूर्व ह्रस्व स्वर दीर्घ किए गए हों)

ऊपर उद्धृत रूप पालि से सम्बद्ध हैं जो कि भाषाई मानों में म. भा. आ. में प्राचीनतम ठहरते हैं। अन्य म. भा. आर्य भाषाओं में कुछ भिन्न रूप मिल सकते हैं, यथा, उदाहरण के रूप में तृतीया बहुवचन में हिं या हि, पञ्चमी बहुवचन में कुछ विस्तार के साथ हितो, आदि। लेकिन जिस किसी बोली पर हम विचार करें सामान्य अभिलक्षण वही मिलते हैं।

इसके बाद सरलता में स्त्रीलिंग शब्द आते हैं। उनका अन्त्य वर्ण जो भी हो, हमें निम्न योजना में उन्हें बिठलाना पड़ता है :

तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी सप्तमी एकवचन : य (आकारान्त प्रकृति के लिए)

शब्दरूप-प्रक्रिया

हमें स्वभावत: दो प्रमुख व्यवस्थाओं—प्रतिपादिक और धातु को ध्यान में रखना पड़ेगा। संज्ञा, सर्वनाम और संख्यावाचकों के सम्बन्ध में जिनका प्रथम व्यवस्था से सम्बन्ध है, हमने पहले ही यह देख लिया है कि म. भा. आ. में सभी शब्दों का अन्त स्वरों से होता है। इसलिए प्रा. भा. आ. की समृद्ध प्रतिपादिक रूपात्मक व्यवस्था केवल स्वरान्त प्रकार में ही सीमित होकर रह गई है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उक्त प्राचीन व्यवस्था बिल्कुल टूट गई। क्योंकि म. भा. आ. ने प्रा. भा. आ. से अपनी व्याकरण की कमी पूरी कर ली है फलत: दोनों आरंभिक और उत्तरवर्ती म. भा. आ. में प्राचीन रूप बचे देखे जाते हैं, किन्तु साहश्य-नियम जिनके आधार पर प्रा. भा. आ. की समृद्ध रूप-प्रक्रियात्मक व्यवस्था का सदृशीकरण चल रहा था पर, वह म. भा. आ. से व्युत्पन्न प्रातिपदिकों को मानकीकृत रूप दे रहा था तथा धीरे-धीरे ऐतिहासिक रूप से व्युत्पन्न रूपों को मिटाता चल रहा था। इस प्रकार बौद्ध संस्कृत में जो भिक्षुस्य रूप मिलता है, वह वही प्रकार है जो कि ऐतिहासिक रूप से व्युत्पन्न भिक्षोः को दूर हटा देता है जैसा कि अन्य म. भा. आ. बोलियों में देखा जाता है।

पहली बात जो हमें फिर से ध्यान में रखनी है वह है म. भा. आ. की रूप प्रक्रिया में द्विवचन का पूर्ण अभाव, केवल एकवचन और बहुवचन ही जीवित हैं। लिंग तीनों ही मिलते हैं। संख्या में विभक्ति रूपात्मक कारक बहुत घट गए हैं। चतुर्थी विभक्ति ने अपने को षष्ठी में विलीन कर दिया है, केवल जहां-तहां कुछ ऐतिहासिक अवशेष उपलब्ध होते हैं। उत्तरवर्ती म. भा. भा. में तृतीया सप्तमी में विलीन हो गयी है। अधिसंख्य प्रातिपदिक (१) अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त रूप में पुल्लिंग और नपुंसक लिंग में तथा आकारान्त, इकारान्त, उकारान्त और (२) ऊकारान्त में रूप स्त्रीलिंग में बचे मिलते हैं।

विभक्तिप्रत्यय:

म. भा. आ. में विभक्ति प्रत्यय बहुत कुछ उसी स्वन प्रक्रियात्मक परिवर्तन के अधीन होते हैं जो शब्द के सामान्य रूप को प्रभावित करता है। इसलिए इस बात की हमेशा सम्भावना है कि प्रा. भा. आ. के दो विभिन्न विभक्ति-प्रत्यय म० मा आ० के एक ही विभक्ति-प्रत्यय की ओर अभिमुख हो जाएं तथा उन स्थानों पर गड़बड़ी पैदा करदे जहाँ पहले सब कुछ स्पष्ट था। इस तरह प्रा० मा० आ० के पुत्रात् और पुत्रा:—अपादान और कर्ता कारक बहुवचन म० मा० आ० में पुत्रा या पुत्ता का रूप धारण करते हैं और जब तक कि प्रकरण बिल्कुल स्पष्ट नहीं, उनका अर्थ लगाना कठिन हो जाता है। इस मुसीबत से छुटकारा पाने के लिए म० मा० आ० ने विभक्ति-

प्रत्ययों का विस्तार करके या प्रतिनिधि विभक्ति-प्रत्यय के अभिलक्षणों को समाविष्ट करके कुछ नवप्रवर्तन किए हैं जो कि अपने क्रम-विकास में भिन्न और इसीलिए म. भा. आ. में सामान्य परिणामी से अलग ठहरते हैं। इस प्रकार पालि ने प्रा. भा. आ. की सार्वनामिक व्यवस्था से 'स्मात्' विभक्ति-प्रत्यय अपनाया है, फलतः निम्नलिखित तीन रूप मिलते हैं: 'धम्मा', 'धम्मस्मा', 'धम्मम्हा', दूसरी ओर अशोक के अभिलेखों एवं बौद्ध नाटकों (खण्डों में प्राप्त) की अनामक प्राकृत बोली में विस्तारित-(आ। ई। ऊ) पाया जाता है। इसी प्रकार जब पालि में कर्म बहुवचन एवं अधिकरण एकवचन समान लगते हैं, यथा 'धम्मे' में, इस कठिनाई से मुक्ति पाने के लिए पालि ने सार्वनामिक 'स्मिन्' को अपनाया : 'धम्मे', इसके अतिरिक्त 'धम्मस्मि' या 'धम्मम्हि'। इस प्रकार ध्वन्यात्मक विकास के द्वारा जो हमने खोया था उसे विस्तार या नये विभक्ति-प्रत्ययों के आदेश से पूरा कर लिया।

विभक्ति-प्रत्ययों की कुछ संख्या ऐसी भी हैं जो संज्ञाओं के पूरे समूह को इसका लिहाज़ किए बिना कि वे पुंलिंग, नपुंसक या स्त्रीलिंग हैं या उनके अन्त में आ, ई या ऊ है, विशेषता प्रदान करती है। यदि हम उन्हें यहां समझ लें तो म. भा. आ. के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान स्पष्ट हो जाएगा। वे विभक्ति प्रत्यय हैं:—

द्वितीया एक वचन :	(म्) (केवल ईकारान्त या ऊकारान्त नपुंसक लिंगों में वैकल्पिक)
तृतीया और पञ्चमी बहुवचन :	हि (जिसके पूर्व अ>ए या अन्य स्वर यदि ह्रस्व हों तो दीर्घ किए गए हों)
सप्तमी बहुवचन :	सु (जिसके पूर्व अ>ए या अन्य स्वर यदि ह्रस्व हों तो दीर्घ किए गए हों
षष्ठी बहुवचन :	नं (जिसके पूर्व ह्रस्व स्वर दीर्घ किए गए हों)

ऊपर उद्धृत रूप पालि से सम्बद्ध हैं जो कि भाषाई मानों में म. भा. आ. में प्राचीनतम ठहरते हैं। अन्य म. भा. आर्य भाषाओं में कुछ भिन्न रूप मिल सकते हैं, यथा, उदाहरण के रूप में तृतीया बहुवचन में हिं या हि, पञ्चमी बहुवचन में कुछ विस्तार के साथ हितो, आदि। लेकिन जिस किसी बोली पर हम विचार करें सामान्य अभिलक्षण वही मिलते हैं।

इसके बाद सरलता में स्त्रीलिंग शब्द आते हैं। उनका अन्त्य वर्ण जो भी हो, हमें निम्न योजना में उन्हें बिठलाना पड़ता है :

तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी सप्तमी एकवचन : य (आकारान्त प्रकृति के लिए)

या (उन अन्य प्रकृतियों के लिए जिनके दीर्घ स्वर—ई और—ऊ ह्रस्व हो जाते हैं)

इस बात का ध्यान रखते हुए कि हम पालि को म. भा. आ. की तुलना का आधार बना रहे हैं, हमें सामने ईकारान्त और ऊकारान्त पुल्लिग-स्त्रीलिंग संज्ञा शब्दों के दूसरे अपेक्षाकृत सरल प्रकार देखने को मिलते हैं:—

प्रथमा एक वचन :	कोई विभक्ति प्रत्यय नहीं (प्रकृति-भाग अपरिवर्तित बना रहता है) यथा: अग्गि, भिक्खु, जाति, नदी, धेनु, सस्सू
प्रथमा और द्वितीया बहुवचन :	तद्रूप: (अ) अन्तिम स्वर का दीर्घीकरण, या (ब) पुल्लिग के लिए—अयो या अवो, स्त्रीलिंग के लिए—इयो,—उयो ।

अन्तिम रूप से हम अकारान्त में पुल्लिग और नपुंसकलिंग तथा इकारान्त—उकारान्त नपुंसकलिंग पाते हैं । यहां जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, प्रथमा एकवचन पुल्लिग ओकारान्त तथा बहुवचन आकारान्त होता है । नपुंसक बहुवचन अन्त में 'नि' जोड़ कर बनता है जिसके पूर्व अंग के ह्रस्व स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है । आकारान्त अंग का कारण एक वचन 'एन' जुड़ कर बनता है तथा दूसरों में 'ना' लगा कर । सभी प्रातिपदिकों की षष्ठी में 'स्स' लगाते हैं, लेकिन इकारान्त और उकारान्त में केवल नो लगता है । अन्य रूपों का तो ऊपर विवेचन किया जा चुका है, यथा पञ्चमी और सप्तमी एक वचन के लिए क्रमश: स्मा और स्मि ।

हमारे लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम समस्त सजातीय बोलियों के बीच पाए जानी वाली समस्त संवादिताओं पर विचार करें, क्योंकि ध्वन्यात्मक संवादिताओं के ज्ञान से हमें अध्ययन के लिए चुनी गई प्रत्येक बोली के लिए उपयुक्त विभक्ति-प्रत्ययों का पता चल जाता है । म. भा. आ. भाषा की विभक्ति-रूप सम्बन्धी व्यवस्था के प्रमुख अभिलक्षणों के विश्लेषण से यह पता लग जाएगा कि विभक्ति-प्रत्ययों की संख्या आधे से कम घट कर रह गई है और प्रा. भा. आर्य भाषा की ध्वन्यात्मक जटिलताएं यहां सरल हो गई हैं । यदाकदा प्रा. भा. आ. भाषा के अवशेष पालि में अग्गयो भिक्खवो जैसे रूप मिल जाएंगे जोकि प्रथमा और द्वितीया बहुवचन में अधिक नियमित रूप अग्गी और भिक्खू से भिन्न ठहरते हैं ।

म. भा. आ. भाषा की ध्वनि-प्रक्रिया के प्रमुख अभिलक्षणों का अध्ययन

करते हुए भारतीय वैयाकरणों द्वारा परिभाषित साहित्यिक प्राकृतों की विभेदक विशेषताओं पर हमने पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है। उनके द्वारा उल्लिखित तीन प्रमुख प्राकृत महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी हैं जो पश्चिमी, मध्य और पूर्वी भारत की भाषाई प्रकृति की विशेषता प्रदर्शित करती हैं। वैयाकरणों द्वारा वर्णित तथा वर्तमान साहित्य में उदाहृत रूढ़ शैली के अनुसार अपने अंकित रूपों में वे इन क्षेत्रीय भाषाओं में देखी गई प्रवृत्तियों को सारणीबद्ध करती हैं।

मागधी (पूर्वी वर्ग) : इसमें तीनों ऊष्म व्यंजनों का तालव्य श् में अपकर्ष हो गया है : प्रा. भा. आ. भाषा में उसका मूल जो भी हो, र् ल् में बदल गया है। य् बचा है, पर वह ज् का स्थानापन्न हो गया है और जहां शौरसेनी या महाराष्ट्री में ज्ज् समूह की अपेक्षा होती है, मागधी में य्य, देखा जाता है। तालव्य अनुनासिक शेष है तथा ऊष्म व्यंजनों से युक्त शब्द असमीकृत रूप में पाए जाते हैं। प्रा. भा. आर्य भाषा के विभक्ति-प्रत्यय मागधी में एकारान्त रूप में सीमित होकर रह गए हैं—परिणामतः पालि का पञ्चमी एक वचन तो मागधी में 'दे' हो गया है स्वर मध्यग दन्त्य व्यंजन घोष दन्त्य के रूप में सुरक्षित हैं (यथा, शौरसेनी में) जबकि स्पर्श व्यंजन विलुप्त हो चुके हैं।

शौरसेनी (मध्यवर्ग) : दन्त्य ऊष्म केवल बचे हैं। यह बोली मानक प्रा. भा. आ. भाषा पर आधारित है। स्वर मध्यवर्ग व्यंजन घोष मिलते हैं जबकि अन्य स्पर्श व्यंजन अपनी स्पर्शता खो देते हैं। प्रा. भा. आ. प्रथमा एक वचन असन्त शौरसेनी में ओकारान्त बन जाते हैं।

रामस्—रामो

महाराष्ट्री (पश्चिमी वर्ग) : सभी स्वर-मध्यग स्पर्श व्यंजन अपनी स्पर्शता का परित्याग करते हैं। ऊष्म व्यंजन दन्त्य स्, रह जाते हैं। प्रा. भा. आ. कर्ता एक वचन असन्त ओकारान्त होते हैं।

यदि म. भा. आ. भाषा बोलियों के इतिहास के सामान्य विकास पर विचार किया जाए तो हम म. भा. आ. के ध्वन्यात्मक अभिलक्षणों की उपर्युक्त विकास दिशाओं की सजीव कल्पना करने की स्थिति में होंगे। इसलिए हमने म. भा. आर्य भाषा की पूरी ध्वन्यात्मक व्यवस्था के ब्योरेवार विवरण से उसके ऐतिहासिक विन्यास को अलग करके देखा है।

धातुरूप-व्यवस्था :

प्रा. भा. आर्य भाषा अपनी धातु रूप—व्यवस्था (तिङ् व्यवस्था) बहुत ही समृद्ध थी, उसके तीन मुख्य रूप-प्रकार थे : वर्तमान, पूर्ण कालिक और अनिर्दिष्टकालिक, जिसमें निश्चयात्मक, आज्ञार्थक, इच्छार्थक या विध्यर्थक,

सभावनार्थक तथा हेतुमद् वृत्तियां हैं। भविष्य तथा अपूर्णकालिक निश्चयार्थक, वृत्ति में ही समाविष्ट हैं। तीन पुरुषों एवं वचनों के सहित यह जटिल व्यवस्था लौकिक संस्कृत में अपेक्षाकृत अधिक एकरूपप्रकार होकर रह गई, जहां सभावनार्थक वृत्ति लुप्त हो गई और अन्य वृत्तियों का वर्तमान, पूर्णकालिक और अनिर्दिष्ट कालिक इन तीनों व्यवस्थाओं पर, निश्चयार्थक वृत्ति को छोड़ कर प्रभाव न रहा (अन्य वृत्तियां केवल लौकिक संस्कृत की वर्तमान व्यवस्था को साधित करती हैं) इस प्रकार पहले से ही प्रा. भा. आ. में ब्राह्मणों के गद्य-ग्रन्थों में उदाहृत समृद्ध घातरूप व्यवस्था को संतुलित लौकिक सस्कृत प्रकार में घटाने की प्रवृत्ति थी, जहां धातुरूपों के बावजूद अपने कृदन्त रूपों के नए विकास के साथ-साथ नामवाक्यों ने म. भा. आ. की क्रियापरक व्यवस्था के शीघ्रतापूर्वक क्षीण होने के कारण म. भा. आ. में नव प्रवर्तन को सम्भव बना दिया।

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में पालि ही एक ऐसी है जिसने अतीत काल के लिए सामान्य भूत के रूपों को बनाए रख कर घातु रूपों में प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की समृद्धि के अवशेषों को सुरक्षित रखा है। लेकिन जब हम अशोक के अभिलेखों से आगे बढ़ते हैं तो हम पाते हैं कि निश्चयार्थक वृत्ति में तीन पुरुष और दो वचन—एक वचन और बहुवचन रह गए हैं :

एक वचन	उत्तम पु. मि	वहुवचन	१— मो
	मध्यम पु. सि		२— थ, ध,—ह
	अन्य पु. ति.—दि,—इ		३— न्ति

इसके अतिरिक्त सविकरण और अविकरण प्रकृति के विभिन्न प्रकार (सामान्यतः यदि प्रेरणार्थक या प्रेरणार्थक-समरूपों को ध्यान में रखा जाए जो कि संस्कृत वैयाकरणों द्वारा नौ या दस प्रकारों में श्रेणीवद्ध हुए हैं) सविकरण प्रकारों में ही मिलते हैं। विकरणहीन प्रकारों की उपस्थिति प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के क्रियावद्ध रूपों के टिके रहने के कारण दीखती है। इस प्रकार ये छः अन्त्य प्रत्यय व्यावहारिक रूप से प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की समस्त समृद्ध व्यवस्था के लिए काम आते हैं जो कि घटकर इसी एक प्रकार में स्थित होकर रह गए। कर्मवाच्यों का कर्तृवाच्यों के अन्त्य प्रत्ययों द्वारा मध्य काल का प्रतिनिधित्व करना मध्यकालीन भारतीय भाषाओं की एक प्रमुख विशेषता है।

इस वर्तमान व्यवस्था के अतिरिक्त सामान्य भूत रूप — इत्था' मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा में सभी पुरुषों और वचनों को समाहित किए हुए है। इच्छार्थक वृत्ति 'ज्जा' अन्त्य प्रत्यय में बची हुई है जिनमें यदि आवश्यक हो तो वर्तमान प्रत्यय लगाए जा सकते हैं। मध्यम पुरुष के आज्ञार्थक अन्त्य

प्रत्यय थ, ध, ह रूप में बहुवचन हैं, एकवचन में सु या हि, अन्य पुरुष, एक वचन में अतु, अदु या अउ प्रयुक्त होते हैं। आगे चलकर अपभ्रंश-काल में यह सरल व्यवस्था भी घिस जाती है।

अभिधेय धातु रूपों के वर्तमानकालिक कृदन्त सामान्यतः—'मान' के योग से बनाए जाते हैं, परन्तु—'अन्त'—परक वर्त्तमान कालिक कृदन्त रूपों के उदाहरणों का अभाव नहीं है। अभिलेखीय या अन्य प्राकृतों में मध्यवर्ती—'मान' दूसरे को विस्थापित कर देता है। बोलियों की प्रकृति के अनुरूप कर्मणि भूतकालिक कृदन्त विशेषणों में अन्त में—इत,—इद या—इय देखा जाता है। तुमर्थ रूपों के अन्त में—तुम्,—इम् या उम् या इत्ताए लगता है। पूर्वकालिक क्रियारूपों की विशेषता शौरसेनी में—इअ से, महाराष्ट्री में—तूण (त्वान) से और अर्ध मागधी में—इत्ता से प्रकट होती है। यह केवल इन रूपों के आधार पर ही मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा की वैदिक भाषा के साथ जितनी अनुकूलता से तुलना की जा सकती है उतनी लौकिक संस्कृत के साथ नहीं।

ऊपर दी गई रूपरेखा अत्यन्त संक्षिप्त है, अधिक विस्तृत विवरण के लिए पाठक को पिशेल, सेन और गाइगर के वर्णनात्मक व्याकरणों का सहारा लेना चाहिए। इस सर्वेक्षण से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं और मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के बीच की संवादिता इस असंदिग्ध तथ्य को सिद्ध कर देती है कि मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा को सरलीकरण की कठिन प्रक्रिया से गुज़रना पड़ा है, फलतः उसकी व्याकरण-संरचना उतनी जटिल न रह पाई।

जहां तक वाक्य-विन्यास का सम्बन्ध है, सभी प्राकृत भाषाएँ संस्कृत के निदर्श का अनुसरण करती हैं और कम से कम गद्य में तो शब्दों का क्रम लगभग वही है। शब्द-विन्यास में कोई भी ऐसे महत्त्वपूर्ण विवरण नहीं मिलते जिनमें मध्यकालीन भारतीय प्रार्य भाषा का प्राचीन भारतीय भाषा से, पूर्वाश्रयी की स्थिति के बारे में भी, यथेष्ट या संलक्ष्य भेद प्रतीत होता हो।

शब्द-राशि

अपने विशाल साहित्य के कारण धार्मिक प्राकृतों की शब्द-राशि बहुत ही समृद्ध है। प्राकृतों के अन्य प्रकारों में यह स्थिति नहीं है और उनमें शब्दों की संख्या भी अधिक सीमित है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा में तीन प्रकार के शब्द मिलते हैं: गृहीत (१—तत्सम—, २. तद्भव—) और असजातीय बोलियों से आगत शब्द। यहां असली देशी तत्वों का प्रश्न हमारे इस वर्तमान सर्वेक्षण से बाहर है। लेकिन यदि इस पर सही रूप से और विशुद्ध वैज्ञानिक ढंग से विचार किया जाए तो

भारत में भारतीय आर्यों और अनार्यों के बीच वर्तमान सांस्कृतिक सम्बन्धों पर पर्याप्त प्रकाश मिलेगा।

प्राकृत वैयाकरण कभी-कभी विभिन्न बोलियों को उनमें प्रयुक्त विशेष शब्दों के आधार पर भिन्न बताते हैं। उदाहरण के तौर पर 'पुरव' यह रूप प्रा. भा. आर्य भाषा पूर्व शौरसेनी माना जाता है, जबकि अन्यत्र यह पुव्व या पुब्ब देखा जाता है। इसी प्रकार 'हगे' मागधी की विशेषता लिए है। लेकिन इस प्रकार के अपवादों के अतिरिक्त मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा-शब्दों में जोकि प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं से आए हैं, बोलियों के ध्वनि-विकास के अनुसार सामान्य परिवर्तन देखने में आते हैं।

प्राकृत शब्दों के बहुमुखी विकास की विशिष्टता प्राचीन भारतीय आर्य भाषा-व्यवस्था की समृद्धि की सूचक है। उदाहरण के तौर पर प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की क्रिया 'कृ' निम्न रूपों में पायी जाती है—

करति :	म. भा. आर्य भाषा करति, कर—इ, करेइ (<कारयति)।
करोति :	म. भा. आ. करोति, करोदि, करोइ।
कुर्वति :	पालि कुव्वति, म. भा. आ. कुव्वइ।
कार्यति :	म. भा. आ. कज्जइ, पालि कयिरति।

यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा के सभी रूपों की संवादिता लौकिक संस्कृत में नहीं प्राप्त होती।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा शब्दों को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करते हुए भी मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा शब्द सामान्यतः केवल ध्वनि-विकासात्मक रूपों के कारण ही नहीं परिवर्तित हुए हैं, बल्कि अनेक अवसरों पर उनके अर्थ या आशय और लिंग आदि भी बदले हैं। पर वस्तुतः ऐसे उदाहरण सौभाग्य से अधिक नहीं हैं। जैन दर्शन में पारिभाषिक पदावली ने अनेक स्थलों पर ऐसे नये अर्थ अपनाए हैं जोकि प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा में नहीं मिलते। इसी प्रकार मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा का 'वत्ता' शब्द (स्त्रीलिंग) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के नपुंसक लिंग 'वर्त्मन्' का संवादी है। संभव परिवर्तनों के ये केवल कुछ उदाहरण है जोकि मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की गृहीत पदावली में प्राप्त होते हैं और इस प्रकार की विशेषताओं का अध्ययन पर्यायकी और तुलनात्मक व्युत्पत्ति-विज्ञान का एक स्वतन्त्र विषय है।

करण और (ब) शब्दावली में विस्तार प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के विकास में पृथक् तथ्य नहीं हैं। इस उप महाद्वीप पर आर्यों के प्रचार के दौरान भारत में देशीय तत्त्वों से बढ़ते हुए सम्पर्क के साथ वे अत्यन्त सजीव रूप से सम्बद्ध हैं। इस अध्याय में हमारा यह बताने का प्रयत्न होगा कि स्वयं मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं ने किस सीमा तक प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के व्यवस्थापन और प्रसार को प्रभावित किया है।

इस अध्याय में मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के द्वारा प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के विकास की दिशा में किए गए योगदान के अपने प्रमुख ध्येय पर आगे बढ़ने से पूर्व—जो कि ऊपर से देखने पर शाब्दिक विरोध प्रतीत होता है, परन्तु गम्भीरता से विचार करने पर यह ज्ञात हो जाता है कि भाषाई विकास की कोई दो निकटस्थ अवस्थाएं एक दूसरे की बनावट को प्रभावित करती हैं—हम यहां १९२८ में दिए गए ज्यूल्स ब्लाश के फर्लांग अभिभाषणों में से वे कुछ अनुच्छेद उद्धृत करेंगे जिनमें सम्बद्ध समस्या का स्पष्ट विश्लेषण हुआ है।

"स्थूल रूप से यदि कहा जाए हम यह कह सकते हैं कि वेद, विशेष रूप से ऋग्वेद, एक संग्रह है, कृति नहीं। यह उस साहित्यिक इतिहास का जो कि भारत में आर्यों के आने से पूर्व आरम्भ हुआ था, आरम्भ प्रकट करता है, न कि अन्त। भाषाविद् के लिए यह अमूल्य दस्तावेज है, क्योंकि इसकी मूलपाठ-विषयक परम्परा उत्तम रीति से सुरक्षित रही है। फलतः इससे न केवल संस्कृत भाषा की एक निश्चित अवस्था का, बल्कि उसके लम्बे विकास के इतिहास का ज्ञान होता है।

"ऐसी बात नहीं है कि कोई एक संस्कृत थी जो कि सामान्यतः एक दिशा में विकसित होती रही। संस्कृत भाषा में विभिन्न साहित्यिक भाषाएं हैं जो केवल काल की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि मनोवैज्ञानिक और सामाजिक विशेषताओं में भी एक दूसरे से भिन्न हैं। इनमें से जो सर्वप्राचीन थी उसने बाद की भाषाओं के लिए एक निदर्श प्रस्तुत किया, उन्हें जन्म नहीं दिया। लेकिन भाषाविदों की दृष्टि में लौकिक संस्कृत वैदिक भाषा के मिलते-जुलते तत्त्वों से निर्मित हुई है, लेकिन वह उससे व्यापक रूप में उतनी ही भिन्न है, जितनी पालि या प्राकृत।

"लेकिन उस काल की संस्कृत वेद की संस्कृत बिल्कुल नहीं मानी जा सकती। उपनिषदों में भी विशुद्ध रूप से यह पुरोहिती भाषा बिल्कुल नहीं है जोकि अत्यन्त प्राचीन शैलीगत परम्पराओं में बंधी हुई है। क्षत्रियों के इस उत्कृष्ट संस्कृति में प्रवेश पा जाने पर इसमें एक नवीन प्राणप्रतिष्ठा हुई :

पुरागत प्रयोग विलुप्त हो गए, व्याकरण में सरलता आ गई, शैली अब भी पेशलता और परिमार्जन से दूर थी, फिर भी उसमें स्वाभाविकता का वह गुण था जिसे भाषाविद् महत्त्व देते हैं।

"............लौकिक युग में संस्कृत का स्वरूप क्या था? उसकी प्रमुख विशेषताएं हैं : एक ओर कहीं अधिक संहत और समानीकृत व्याकरण और दूसरी ओर विशाल रूप से विस्तार-प्राप्त शब्दावली..............मैं यहां कुछ प्रसंगों को उठाता हूं :—तृतीया विभक्ति के अनेक अन्त्य प्रत्ययों में से केवल एक बचा है (यथा देवेन, मधुना, बहुवचन देवैः, यही स्थिति कर्त्ता बहुवचन की है देवाः, भुवनानि, नामानि), क्रियार्थक रूपों की संख्या में बहुत कमी आ गई है : वे जोकि मुख्यतः अंग-परिवर्तन को स्वीकार करते हैं, यथा सानुनासिक वर्तमान और सरल सामान्य भूत, उनमें विलुप्त होने की प्रवृत्ति देखी जाती है। इससे व्याकरण के संहत होने का स्पष्टीकरण हो जाता है। जहां तक उसके समानीकरण का प्रश्न है, मैं स्त्रीलिंग एक वचन 'आयाः' अन्त्य प्रत्यय के पुनः प्रवर्तन का उल्लेख करूंगा जो कि ब्राह्मणों में संप्रदान अन्त्य प्रत्ययों से संयुक्त कर दिया गया था, प्रातिपदिक की दीर्घता के अनुसार धेनोः और 'भुवः' का अन्तर और उनके स्थान पर 'धेन्वाः' और 'भुवाः' को रखने की प्रवृत्ति, प्राचीन रूप 'भूयाः' के स्थान पर अन्य पुरुष एक वचन आशीर्लिङ् 'भूयात्' का प्रतिष्ठापन, जबकि सम्बद्ध प्रकृति अपना सके तो समस्त क्रियाओं में भाववाच्य का योजन: क्रियाओं के पूरक रूप में अंशबोधक षष्ठी के स्थान पर द्वितीया का पुनः प्रयोग, जब दो वस्तुएं विचाराधीन हों तो द्विवचन का सर्वाधिक प्रयोग, जोकि प्राचीन काल में प्रयोग में नहीं था। इसी प्रकार और अन्य परिवर्तन भी हुए।

'जहां तक शब्दावली का सम्बन्ध है, इसमें आश्चर्य नहीं कि वह बहुत व्यापक रूप में बढ़ी है, क्योंकि वैदिक कृतियाँ तो समाज के एक वर्ग के जीवन और विचारों को ही केवल अभिव्यक्त करती थीं। इस तथ्य से भी यह दृष्टि समर्थित हो जाती है कि लौकिक संस्कृत में पाए जाने वाले अनेक शब्द भारोपीय वर्ग से गृहीत रूप में पहचाने जा सकते हैं। लेकिन दूसरी ओर कुछ ऐसे भी शब्द मिलते हैं जो प्राकृत मूलक हैं। (मैं यहां प्राकृत का प्रयोग जनता—प्रकृति की भाषा के रूप में कर रहा हूं)।"

अधिसंख्य शब्दों के बारे में भी जिन्हें भारोपीय मूलक प्रमाणित किया जा सकता है और जोकि लौकिक संस्कृत में पाए जाते हैं, यह पता लगाना अत्यन्त रोचक होगा कि उनका प्रयोग कैसे आरम्भ हुआ, वे अनभिलिखित प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की बोलियों से आए जिनके अवशेष बारम्बार किसी

न किसी रूप में वैदिक साहित्य में प्राप्त होते हैं, या मध्य कालीन भारतीय आर्य भाषा की बोलियों से उनका आगमन हुआ जोकि, जब लौकिक संस्कृत ने अपना साहित्यिक जीवन आरम्भ किया, निश्चित रूप से वर्तमान थीं और जिन्होंने अपने क्रम से भारत की सांस्कृतिक एकता को सहारा दिया।

पाणिनि पतंजलि जैसे हमारे प्राचीन वैयाकरण यदा-कदा प्राचीन भारतीय आर्य भापा के कुछ ऐसे शब्दों का उल्लेख करते हैं जो किन्हीं निश्चित प्रदेशों में सीमित हैं जिनके बाहर प्रचलित शब्दों के रूप में उन पर विचार ही नहीं होता। उदाहरण के तौर पर वार्तिककार उल्लेख करते हैं : 'वर्तका शकुनौ प्राचाम्' (पूर्व में शकुनि-विशेप के अर्थ में वर्तका शब्द प्रयुक्त होता है) जोकि भारत की पूर्वी या मगध की सीमा में इस विशेष अर्थ प्रयुक्त दीखता है, पालि में यह वट्टका (बटेर) रूप में बचा मिलता है। स्वभावतः प्रश्न यह उठता है कि क्या 'वर्तका' को प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का शब्द माना जाए ? वार्तिक कार ने उक्त शब्द का प्रयोग पूर्व तक ही सीमित रखा है यह तथ्य प्रदर्शित करता है कि यद्यपि यह अपने इस विशेप अर्थ में समस्त भारत में प्रचलित नहीं था, इसलिए इसे प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का ही शब्द समझा जाए, लेकिन आवश्यक रूप से यह अर्थ की दृष्टि से नहीं है जो किसी विशेष क्षेत्र से सीमित है। ऐसे स्थलों में यह भी सम्भव है कि उस क्षेत्र की किसी मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की बोली में यह अर्थ विकसित हो गया हो और उसी क्षेत्र में (अन्यत्र नहीं) सजातीय प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में स्थान पा गया हो। लेकिन वस्तुनिष्ठ प्रमाण की अनुपस्थिति में यह प्राक्कल्पना प्रमाणित नहीं हो पाई। लेकिन इससे हमें यह संकेत मिलता है कि प्राचीन भारतीय आर्य भापा के प्रसार में मध्य कालीन भारतीय आर्यभाषा द्वारा किए गए योगदान पर ध्यान रखते हुए हमें इन दो पहलुओं पर अवश्य विचार करना चाहिये : शब्द का रूप और उसका अभिप्राय। इस प्रकार जब पतंजलि कहते हैं कि 'वट्टदि' 'आणपयति' जैसे रूप किसी विशेप क्षेत्र में प्रचलित हैं, हमें वह ढंग देखने को मिलता है जिसके सहारे मध्यकालीन भारतीय आर्यभापा के शब्द रूप प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की शब्दावली में जुड़ जाते हैं, बिल्कुल उसी तरह जैसे 'वर्तका' के अर्थ विस्तार में मध्यकालीन भारतीय आर्यभापा का योगदान देखने को मिलता है।

इस अन्योन्य क्रिया के अध्ययन में वैयाकरणों से स्वयं कोई प्रत्यक्ष सहायता नहीं मिलती। प्रमुख रूप से उनका चिन्तन इसी पर रहता है कि शिष्ट क्या है और क्या नहीं है, और इस वर्गीकरण में दिङ्मात्र हमें शिष्टत्व के प्रचलन की मान्यता की झांकी मिलती है। यदि हम काल-सन्दर्भ में प्रचलन की

मान्यता का अध्ययन कर सकते तो हम यह देखने की स्थिति में होते कि कैसे इस विस्तार, समानीकरण या सरलीकरण ने जड़ पकड़ी और इस उद्घाटन का प्रकार क्या था। इस सम्बन्ध में दो तथ्य सुलभ हैं, जिन पर ध्यान दिया जाना चाहिए। प्राचीन कालीन भारतीय भाषा विशेष रूप से संस्कृत सुनिश्चित सम्पर्क भाषा नहीं रही है : यह लम्बे अरसे तक सांस्कृतिक भाषा, विद्वानों की सम्पत्ति, तथा धीरे-धीरे क्षीयमाण प्रकार में किसी बोलचाल की जुबान का प्रामाणिक और सर्वग्राह्य दस्तावेज बनी रही। परन्तु कालक्रम से भारतीय आर्यभाषा की प्रत्येक शाखा पर उस सीमा तक अपना अधिकार जमा लिया कि हमारे लिए इसे उन सम्पर्क-भाषाओं से जिनके बीच यह विकसित हुई, बिल्कुल अलक करके अध्ययन कर पाना मुश्किल हो गया। इस प्रकार वे लोग जिन्होंने अवभाषाओं—सम्पर्क भाषाओं को स्वयं विकसित किया, शिष्ट थे, प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के मुहाविरों पर उनका पूर्ण अधिकार था और निश्चित रूप से पता चल जाता है कि दोनों साहित्य, भले ही अत्यन्त सूक्ष्म अनुपात में क्यों न हो, एक दूसरे को परस्पर प्रभावित करते रहे। जहाँ तक प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का सम्बन्ध है, हम उन्हें दो श्रेणियों में वर्गीकृत कर सकते हैं : (अ) सम्पर्क भाषाकरण तथा (ब) अतिसंस्कृतीकरण। उदाहरण के तौर पर प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के 'आणपयति' जैसे रूपों की स्वीकृति प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के अवभाषाकरण की सूचक है, जबकि मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के किसी प्रदत्त शब्द को प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की सम्भव आकृति में ढालना : यथा संस्कृत 'प्रसभम्' 'वैदिक प्रसह् (सम्भवत: म० भा० आ० द्वारा सब्भ <प्रा० भा० आ० सह् – ब–) अतिसंस्कृतीकरण के द्वारा है। हमें इस पर विचार करना चाहिए कि किस सीमा तक अवभाषाकरण और अतिसंस्कृतीकरण ने लौकिक संस्कृत के विकास को प्रभावित किया है।

वस्तुत: ऋग्वेद की भाषा में भी कुछ सीमा तक हमें प्राकृतीकरण या अवभाषाकरण देखने को मिलता है। आधुनिक भाषाविदों की व्याख्या के अनुसार यह मूल प्राकृत भाषाओं के प्रभाव के कारण है जो कि प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की बोलियों के साथ-साथ उस समय निश्चित रूप से प्रचलित थीं जबकि वैदिक सूक्त रचे जा रहे थे। अधिसंख्य शब्दों में मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं की कुछ विशेषताएँ सरलता से देखने को मिल जाती हैं, वे हैं प्रतिवेष्टन (मूर्धन्यीकरण)– मूर्धन्य वर्णो वाले शब्दों के द्वारा मध्यकालीन भारतीय–आर्यभाषा की कुछ प्रवृत्तियों का आत्मसात् करना, 'शिथिर' जैसे रूपों में इ की ऋ–स्थानापन्नता,–फ के स्थान पर च्छ, द्य के स्थान पर ज्य,

पुरुष<पूर्व जैसे रूपों में मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की स्वर-विसन्धि, प्राचीन क्रगु (कुगु) के स्थान पर कुरु का प्रयोग आदि-आदि । जहां तक सामान्य प्राचीन भारतीय भाषा का सम्बन्ध है हम मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की कुछ विशेषताओं पर विचार कर सकते हैं जोकि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा–शब्दावली को समृद्ध करती हैं ।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा 'ऋ' का आरम्भिक लोप मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा की एक प्रमुख विशेषता है, 'ऋ' के स्थान पर अ, इ, उ का आदेश हो जाता है और उसके पूर्व 'र' स्वन नहीं होता। ऋ की उपस्थिति दन्त्य से उद्‌भूत मूर्धन्य द्वारा प्रकट होती है : यथा संस्कृत भट<भृत 'सैनिक, 'वैदिक–कट–विकट में, लौकिक सं० उत्कट<उत् कृत कृत<कृ√प्रकृति से ।

ऋ: र: यथा ऋत—: अभिलेखों में

भ्रकुटि,–, भ्रकुंश <भृ–।

सही प्राकृतीकरण के कारण ऋ के स्थान पर इ हो जाता है: वैदिक शिथिल–, वैदिक श्रथ और पूर्व की प्रा०भा०आ० श्रृथ्–, म०भा० आ में सिढिल जिसका ढ् ऋ की उपस्थिति में ध् हो जाता है, इसी प्रकार सूत्र सिघ् 'सूंघना:' शृंख–, सू० संइद्ध–: समृद्ध–। वैदिक इटन्त <इट्–(अट् के अतिरिक्त, यथा संस्कृत अतते, अतिथि में साक्ष्यंकन से पता चलता है) ऋ–ट् से सम्बद्ध दो प्रकृति ।

ऋ के लिए उ: औ. सू. त्वष्टुमन्तस् : वा०सं० त्वंष्टृमन्तस्, परवर्ती क्रोष्टु <वैदिक कोष्टृ (श्रृगाल) । मूल दन्त्यों के लिए कुछ मूर्धन्य स्वनों के आधार पर आरम्भिक ऋ का पुनः प्रयोग, यथा वैदिक कूट 'घर'<कृत-आ. १) + इस प्रकार के शब्दों में वाकरनागेल संन्निविष्ट करते हैं वैदिक कुणारु–, परवर्ती कुणि–, 'सूखी भुजावाला,' वैदिक पुण्य, ब्रा०पुट०–, ब्रा० स्फुट–, उप० मुण्ड– 'मुंडित,' सू० कूटिल–(टेढ़ाधूर्त)' कुण्ड–(कटोरा) 'लौ० सं० उटज–(झोपड़ी) कूट (ट्)–(कुचलना) 'कुट्टिम<कृत्रिम,' कुठार (कुल्हाड़ी)' कुण्ड्–विकलांग) करना, 'गुणिका-अर्बुद, निपुण (चतुर, दक्ष) गुड–(गुड़), उडुप– (चन्द्रमा) <ऋतु–। इसी श्रेणी में आते हैं सू० गुच्छ <गृफ्स्त और लौ. सं. मुधाः वे वै.–मृध्–(वै० मृषा-तुल वै मृष्) । लुषभ शब्द में लु के स्थान पर ऋ का परिवर्तन देखने में आता है—लुः ऋ (ऋषभ) ।

विशिष्ट देशी भाषाकरण का उदाहरण है सं० इंगाल—'लाल या जलता हुआ कोयला' सं० अंगार–यह प्रयोग नैषध चरित्र १.९ में मिलता है ।

द्विस्वर सन्ध्यक्षर ऐ, औ का लोप म०भा०आ० का एक अन्य अभिलक्षण है, जिनका स्थान सामान्य रूप से क्रमशः समानाक्षर ए, ओ और आगे

चलकर इ, उ लेते हैं।

वै० अस्मे: तै० ब्रा० असमे वा० सं०-केवर्त तै० ब्रा० कैवर्त अथर्ववेद रोहिण–,तै० सं० औषधीषु में सं० ओषधीषु–ऋग्वेद गमध्यै: तै०सं० गमध्ये; तै०सं वोढवे: का० सं० वोढवै, ऋग्वेद मेष्यै: मेष्ये० वा०स० स्वौपशा: मै०सं० स्वोपशा।

ऋ के स्थान पर ए का परिवर्तन-वै० गेह–'घर,' गेह्य–'घर का चूहा' वै०गृह–इसी प्रकार ऋध् का स्थानापन्न एध् 'बढ़ना'।

इसी प्रकार याकोबी या अन्य लोगों ने कुछ लौकिक संस्कृत रूपों पर यथा-आगार-: अगार–, खलीन–: खलिन आदि में प्राकृत प्रभाव माना है।

अय् का 'ए' के रूप में संकोचन एक अन्य मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा की विशेषता है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में जहां-कहीं यह साक्ष्यंकित हो, उसे प्रा०भा०आ० पर म०भा०आ० का प्रभाव मानना चाहिए। इस प्रकार का प्रभाव वैदिक त्र्यक्षरिक त्रेधा के लिए माना गया है: त्रेधा (<त्रयधा?), श्रेणी-(<श्रयणी-)। अव् के स्थान पर ओ (ओ<अव्) के विधान को तो और भी निश्चित प्रमाण प्राप्त होता है: बौद्ध संस्कृत पोषध-<ब्रा उपसथ- 'उपवास का दिन,' धातु पाठ ओणति<लौ०सं० अपनयति, कोशमत योनल<यवनाल, लोण-तृण<लवणतृण-'घास की किस्म' लोणार-'नमक की किस्म'<लवण। यजुर्वेद में भी इस परिवर्तन के कुछ उदाहरण मिलते हैं वा०सं० तोतो, तै०सं० तोत: मै०सं० काठक तवं तव; श्रोण–, संहि० श्लोण- 'लंगड़ा, लंगड़ापन,' ब्रा० श्लवण- 'सू०श्रवण–; संहि० श्रोण- 'एक नक्षत्र,' अथर्व, क्ला० श्रवण, वा०सं०, तै०सं० क्षयणाय: मै०सं० क्षेणाय, अथर्व स्रोत्यास्: का०सं स्रवत्यास्।

स्वर-भक्ति की समस्त प्रक्रिया जबकि विशेष रूप से व्यंजन-सम्बन्ध में र् या र् के साथ कोई ऊष्म वर्ण सम्मिलित होता है तो कुछ विद्वानों की राय में यह म०भा०आ० का प्रभाव माना जाता है। इस प्रकार पालि पोस–, पुरिस–, पो`रिस और प्रा० पुरिस, संस्कृत पुरुष या पूरुष–'आदमी' प्रा. भा. आ. के आदिम रूप 'पूर्ष' को प्रदर्शित करते हैं, जिससे स्वरभक्ति के कारण वैदिक पूरुष उद्भूत हुआ है।

इसी प्रकार के रूप जिनका आरम्भ ल् या र् से पूर्व इ या उ से होता है, यथा संहि. इलयति 'स्थिर रखता है', इरजयति 'शासन करता है' इरधते पाने का यत्न करता है', 'ऊर री+कृ-,ऊरी+कृ- विस्तार देना, 'आदि या इयक्ष्–, इरस्य, इषिध्–, इष्कृ–, वहां अभिनिहित इ को म०भा०आ० के सादृश्य के कारण माना जाता है, यथा म०भा०आ० इत्थी <त्थी<प्रा०भा०आ० स्त्री

(गाथा इस्त्री)

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की व्यंजन-व्यवस्था पर ध्यान देने पर, वहां भी मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की पर्याप्त विशेषताएं दीखती हैं।

घोष > अघोष स्पर्श : बहुत से वैदिक उदाहरण सुलभ हैं : अथर्ववेद गुल्फ–: वै० कुल्फ–'टखना,' ब्रा०गार्त–>वै० कार्त-छिद्र, का०सं० उपोलब (लिखित उपोलव)>मै०सं० उपोलप–(झाड़ी-जैसा) सू० तडाग>ब्रा तटाक–, कोश० तडाग- 'झील, समुद्र आदि, लौ. सं. तट 'किनारा, लौ. सं. लगुड-लकुट- (लकड़ियों का गट्ठा), लौ०सं० मदि(का)>मत्या>ब्रा०मती-कृ, (सताना), लौ.सं उडुप-चांद—ऋतुप लौ. सं.जूट–, ब्रा० चूड़। जबकि ये उदाहरण प्रा०भा०आ० के विभिन्न स्तर को बताते हैं, परन्तु ये तथ्य हमें प्राचीन वैदिक काल में भी मिलते हैं : वैदिक अर्भग–(अल्प वयस्क)—अर्भक–(छोटा) तुज्–'संतान, बच्चे, 'तुजये: तुच्-तोक–; पृच्–ब्रा०अवप्रज्जन–'जालेकेताने का अन्त,' मै०सं० गिरिकेभ्य: वा०स० किरिकेभ्य:; का० कुसिदायी: मै०सं० कुसित, कुसितायी (दानवीय जीव का एक प्रकार), तुल० तै०सं० कुसीद अथर्व० कुसूल–(कुसूद), इसी प्रकार अभिलेखीय रूपों में लिपिकर–, लिबिकर–'लिपिक'।

दूसरी ओर आरंभिक घोष स्पर्शो के स्थान पर अघोष स्पर्शों के विधान के उदाहरण भी मिलते हैं : ब्रा० विभीतक–<वैदिक-विभीदक—टर्मिनेलिया वेलेरिका; ब्रा० वि इंक्-इतस्ततः संचालन<वै इग्–, सू० प्रातखनंक–'प्रातः—स्नान' <संहि० प्रातखनेग–; लौ०सं० पण्ड–(क्लीब) < सं० वण्ड' लौ०सं० स्फिग् <स्फिग्, वै स्फिगी 'नितम्ब,' यह हमें पैशाची की सघोष स्वरमध्यग स्पर्श वर्णों के अघोषीकरण की नियमित विशेषता की याद दिलाता है।

आरम्भिक अवस्था के कुछ ऐसे अनेक शब्द भी मिलते हैं जिनमें अल्प-प्राण स्पर्श वर्णों के स्थान पर महाप्राण प्रयुक्त दीखता है। लोगों का खयाल है कि ये आगत शब्द म०भा०आ० के हैं। इस प्रकार सं० गुफ् 'बुनना' वै० गुष्पित का सजातीय है। इसी प्रकार कुछ उदाहरणों में अघोष स्पर्श वर्ण स्वर मध्यम अवस्था में घोष महाप्राण: वर्णो में परिवर्तित हुए हैं : धातुपा० नाथ–, नाध्–, ये वैदिक नाधित से साक्ष्यंकित हैं—नाधित- <नाथिता–, मधुरा (पतंजलि द्वारा उद्धृत) <मथुरा, इसी प्रकार आगे चलकर म०भा०आ० के प्रभाव में शृंखणिका- 'आम', श्लेष्मा <शृंघणिका के रूप में प्राप्त होता है।

जब हमारा ध्यान व्यंजन-गुच्छों की ओर जाता है तो हम पाते हैं कि प्रा०भा०आ० के सामान्य आभ्यन्तर सन्धि-नियम पहले से ही प्रतिवेष्टन

(मूर्धन्यीकरण) और तालव्यीकरण के नियमों में समाविष्ट कर लिए गए हैं। दन्त्य वर्ण जब मूर्धन्य या तालव्य वर्णों के सम्पर्क में आ जाते हैं, तो वे क्रमशः मूर्धन्य या तालव्य वर्णों में बदल जाते हैं। इसी प्रकार व्यंजन-संधि की परिस्थितियों पर निर्भर दो या अधिक स्पर्श वर्णों के गुच्छ में सुस्वरता को घोषीकरण या अघोषीकरण की अपेक्षा होती है। इसी प्रकार प्राप्त होते हैं उद् गच्छति (<उत्-), चित्र, रत्न-, उग्र-आदि। इसमें उत् का त् गच्छति ग् के सम्बन्ध में घोष हो जाता है, परन्तु द्वितीय अवयव के रूप में वर्तमान र् या न् के सम्पर्क में अपरिवर्तित ही रहता है। लेकिन प्रा०भा०आ० में कुछ ऐसे भी शब्द मिलते हैं जो कि यह प्रदर्शित करते हैं कि उन्हें म०भा०आ० की विशेषता-भूत व्यंजनों के समीकरण की प्रक्रिया ने प्रभावित किया है और इससे प्रा०भा०आ० पर म०भा०आ० की पुरस्पंठ प्रवृत्ति को प्रदर्शित किया है, हालांकि अति संस्कृतीकरण के रूप में ही निम्न उदाहरण प्रा०भा०आ० में इन दोनों रूपों—समीकृत और असमीकृत—के अस्तित्व को बताते हैं:

चित्कण कंठ<(गणपाठ) निस्कण कंठ—एक स्थान का नाम, अवदिद्ये<दिद्ये के लिए दयते से। वाकरनागेल की राय है ये परिवर्तन पूर्णतः म. भा. आ. के प्रभाव के कारण हैं। वस्तुतः अशोक के कालसी अभिलेखों में हमें इसी प्रकार के परिवर्तन देखने को मिलते हैं। निच्यम् : प्रा. भा. आ. नित्यम्। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि वैदिक कृच्छ्र प्रा. भा. आ. कृच्छ्र् से उद्भूत है। इसमें समीकृत च्छ् आरम्भिक प्स के स्थान पर विहित है जिसका दूसरा उदाहरण गुच्छ है (अतिसंस्कृती कृत, बाद में कोश में गुत्स)। यह प्रा. भा. आ. के गृत्स का स्थानापन्न है। (दे. सु. ग्रप्स—, ग्लप्स—'गुच्छा')।

जब प्रा. भा. आ. छ् या च्छ् पर विचार करते हैं, हम यह भी पाते हैं कि प्रा. भा. आ. के कुछ शब्द, जैसा कि आगे उदाहृत किया जा रहा है, अपनी आरम्भिक क्ष् या त्स् की स्थिति में परिवृत्त हो जाते हैं: 'च्छ् के स्थान पर क्ष् : अ. वे. ऋच्छरा—'टखने और खुर के बीच का किसी पशु के पैर का भाग' : वा. सं. ऋक्षला, अ. वे. की अनेक पाण्डुलिपियों में प्राप्त; छव,—परिच्छव—, परिच्छित्,<क्षव—, परिक्षव—'अनेक बार या बुरे सगुन की छींक,' परिक्षित् 'सीमा-विस्तार'। दशकुमारचरित स्वतः छुरिका '(चाकू)' का प्रयोग साक्ष्यंकित करता है <वै. क्षुर। भारतीय (प्राचीन) महाकाव्य और परवर्ती साहित्य में उसी प्रकार कच्छा और कक्षा दोनों ही रूप आमने-सामने दीखते हैं। इसी प्रकार कोश में प्राप्त रूप अच्छ 'भालू' <ऋक्ष से सम्बद्ध है। दोनों ही म. भा. आ. की विशेषता ऋ—अ और क्ष >च्छ प्रदर्शित करते हैं।

(गाथा इस्त्री)

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की व्यंजन-व्यवस्था पर ध्यान देने पर, वहां भी मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की पर्याप्त विशेषताएं दीखती हैं।

घोष > अघोष स्पर्श : बहुत से वैदिक उदाहरण सुलभ हैं : अथववेद गुल्फ–: वै० कुल्फ–'टखना,' ब्रा०गार्त–>वै० कार्त-छिद्र, का०सं० उपोलब (लिखित उपोलव) >मै०सं० उपोलप–(झाड़ी-जैसा) सू० तडाग >ब्रा तटाक–, कोश० तडाग- 'झील, समुद्र आदि, लौ. सं. तट 'किनारा, लौ. सं. लगुड-लकुट- (लकड़ियों का गट्ठा), लौ०सं० मदि(का) >मत्या >ब्रा०मती-कृ, (सताना), लौ.सं उडुप-चांद—ऋतुप लौ. सं.जूट–, ब्रा० चूड़। जबकि ये उदाहरण प्रा०भा०आ० के विभिन्न स्तर को बताते हैं, परन्तु ये तथ्य हमें प्राचीन वैदिक काल में भी मिलते हैं : वैदिक अर्भग–(अल्प वयस्क)—अर्भक–(छोटा) तुज्–'संतान, बच्चे, 'तुजये: तुच्-तोक–; पृच्–ब्रा०अवप्रज्जन–'जालेकेताने का अन्त,' मै०सं० गिरिकेभ्य: वा०स० किरिकेभ्य:; का० कुसिदायी: मै०सं० कुसित, कुसितायी (दानवीय जीव का एक प्रकार), तुल० तै०सं० कुसीद अथर्व० कुसूल–(कुसूद), इसी प्रकार अभिलेखीय रूपों में लिपिकर–, लिबिकर–'लिपिक'।

दूसरी ओर आरंभिक घोप स्पर्शो के स्थान पर अघोष स्पर्शों के विधान के उदाहरण भी मिलते हैं : ब्रा० विभीतक–<वैदिक-विभीदक—टर्मिनेलिया बेलेरिका; ब्रा० वि इंक्-इतस्तत: संचालन<वै इग्–, सू० प्रातखनंक–'प्रात:—स्नान' <संहि० प्रातखनेग–; लौ०सं० षण्ड–(क्लीब) < सं० वण्ड' लौ०सं० स्फिग् <स्फिग्, वै स्फिगो 'नितम्ब,' यह हमें पैशाची की सघोप स्वरमध्यग स्पर्श वर्णों के अघोषीकरण की नियमित विशेषता की याद दिलाता है।

आरम्भिक अवस्था के कुछ ऐसे अनेक शब्द भी मिलते हैं जिनमें अल्प-प्राण स्पर्श वर्णों के स्थान पर महाप्राण प्रयुक्त दीखता है। लोगों का खयाल है कि ये आगत शब्द म०भा०आ० के हैं। इस प्रकार सं० गुफ् 'बुनना' वै० गुष्पित का सजातीय है। इसी प्रकार कुछ उदाहरणों में अघोप स्पर्श वर्ण स्वर मध्यम अवस्था में घोप महाप्राण: वर्णो में परिवर्तित हुए हैं : धातुपा० नाथ–, नाध्–, ये वैदिक नाधित से साक्ष्यंकित हैं—नाधित- <नाथिता–, मधुरा (पतंजलि द्वारा उद्धृत) <मथुरा, इसी प्रकार आगे चलकर म०भा०आ० के प्रभाव में शृंखणिका- 'आम', श्लेष्मा <शृंघणिका के रूप में प्राप्त होता है।

जब हमारा ध्यान व्यंजन-गुच्छों की ओर जाता है तो हम पाते हैं कि प्रा०भा०आ० के सामान्य आभ्यन्तर सन्धि-नियम पहले से ही प्रतिवेष्टन

(मूर्धन्यीकरण) और तालव्यीकरण के नियमों में समाविष्ट कर लिए गए हैं। दन्त्य वर्ण जब मूर्धन्य या तालव्य वर्णों के सम्पर्क में आ जाते हैं, तो वे क्रमशः मूर्धन्य या तालव्य वर्णों में बदल जाते हैं। इसी प्रकार व्यंजन-संधि की परिस्थितियों पर निर्भर दो या अधिक स्पर्श वर्णों के गुच्छ में सुस्वरता को घोषीकरण या अघोषीकरण की अपेक्षा होती है। इसी प्रकार प्राप्त होते हैं उद् गच्छति (<उत्-), चित्र, रत्न-, उग्र-आदि। इसमें उत् का त् गच्छति ग् के सम्बन्ध में घोष हो जाता है, परन्तु द्वितीय अवयव के रूप में वर्तमान र् या न् के सम्पर्क में अपरिवर्तित ही रहता है। लेकिन प्रा०भा०आ० में कुछ ऐसे भी शब्द मिलते हैं जो कि यह प्रदर्शित करते हैं कि उन्हें म०भा०आ० की विशेषता-भूत व्यंजनों के समीकरण की प्रक्रिया ने प्रभावित किया है और इससे प्रा०भा०आ० पर म०भा०आ० की घुसपैठ प्रवृत्ति को प्रदर्शित किया है, हालांकि अति संस्कृतीकरण के रूप में हो निम्न उदाहरण प्रा०भा०आ० में इन दोनों रूपों—समीकृत और असमीकृत—के अस्तित्व को बताते हैं :

चिल्कण कंठ<(गणपाठ) निस्कण कंठ—एक स्थान का नाम, अवदिग्ये<दिद्ये के लिए दयते से। वाकरनागेल की राय है ये परिवर्तन पूर्णतः म. भा. आ. के प्रभाव के कारण हैं। वस्तुतः अशोक के कालसी अभिलेखों में हमें इसी प्रकार के परिवर्तन देखने को मिलते हैं। निवयम् : प्रा. भा. आ. नित्यम्। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि वैदिक कृच्छ्र प्रा. भा. आ. कृच्छ्र् से उद्भूत है। इसमें समीकृत च्छ् आरम्भिक प्स् के स्थान पर विहित है जिसका दूसरा उदाहरण गुच्छ है (अतिसंस्कृती कृत, बाद में कोश में गुत्स)। यह प्रा. भा. आ. के गृप्स का स्थानापन्न है। (दे. सु. ग्रप्स—, ग्लप्स— 'गुच्छा')।

जब प्रा. भा. आ. छ् या च्छ् पर विचार करते हैं, हम यह भी पाते हैं कि प्रा. भा. आ. के कुछ शब्द, जैसा कि आगे उदाहृत किया जा रहा है, अपनी आरम्भिक क्ष् या त्स् की स्थिति में परिवृत्त हो जाते हैं : 'च्छ् के स्थान पर क्ष् : अ. वे. ऋच्छरा—'टखने और खुर के बीच का किसी पशु के पैर का भाग' : वा. सं. ऋक्षला, अ. वे. की अनेक पाण्डुलिपियों में प्राप्त; छव,—परिच्छव—, परिच्छित्, <क्षव—, परिक्षव—'अनेक बार या बुरे सगुन की छींक,' परिक्षित् 'सीमा-विस्तार'। दशकुमारचरित स्वतः छुरिका '(चाकू)' का प्रयोग साक्ष्यांकित करता है <वै. क्षुर। भारतीय (प्राचीन) महाकाव्य और परवर्ती साहित्य में उसी प्रकार कच्छा और कक्षा दोनों ही रूप आमने-सामने दीखते हैं। इसी प्रकार कोश में प्राप्त रूप अच्छ 'भालू' <ऋक्ष से सम्बद्ध है। दोनों ही म. भा. आ. की विशेषता ऋ—अ और क्ष>च्छ प्रदर्शित करते हैं।

इसी प्रकार लौ. सं. लाञ्छन <ब्रा. लक्षण चिह्न से सम्बद्ध है। च्छ् के स्थान पर त्स्; क्लासिक संस्कृत उच्छन्न 'विनष्ट, नाशित–' <संहि. उत्सन्न–, उच्छादन—(सफाई, रगड़,)'<ब्रा. उत्सादन, मच्छ>' मछली—वं. मत्स्य–, वच्छ–, 'बालक', <वत्स-जबकि (कोश) दीर्घ-वच्छिवा 'घड़ियाल', वच्छल<, लौ. वत्सल–, इसी प्रकार कोशों में प्राप्त रूप उच्छूर<प्राचीन उत्सूर से मिलता है। कोशीय रूप गुत्स जो पहले ही ऊपर उद्धृत किया जा चुका है, अति संस्कृतीकरण का उदाहरण है।

म० भा० आ० के कारण समीकरण का अन्य रोचक उदाहरण है ज्ज : ज्य् लौ० सज्जा 'उद्यत, तैयार' <सज्य 'धनुष की डोरी-सहित 'महाकाव्य में सज्जति <ब्रा० सज्यते, सस्सज्जुतुर, सज्जयति। इसी प्रकार लज्ज् ऐतरेय ब्राह्मण ३, २२, ७ में साक्ष्यंभिक्त-लज्जमाना—'रज्यते' (लाल होना' से), इसी परिवर्तन के समान ज्ज<द्य, महाकाव्य में उज्जानक<संहि. उद्यान से।

समी कारण की मध्य अवस्था तो पहले ही वैं. ज्योति 'प्रकाश' में देखी जा चुकी है। आरम्भिक द्युत्–से बाद में 'ज्योतयति' 'ज्योतति' प्रयोग मिलते हैं। आरंभिक य का ज् में म. भा. आ. का परिवर्तन कादम्बरी में प्राप्त जातुधान के रूप में मिलता है। इसका पूर्ववर्ती संवादी रूप यातुधान है. और जोम्–भविष्य.<संहि. यम्–।

वाकर नगेल ने यह भी प्रदर्शित किया है कि प्रा. भा. आ. में झ् की उपस्थिति मुश्किल से आरम्भिक गृहीत शब्दों के कारण मानी जा सकती है। केवल उज्झती (बिजली) ब्रा. उज्झ परित्याग करना 'और झष-इन तीन शब्दों को छोड़ कर अन्य अवशिष्ट स्थलों पर झ् की उपस्थिति प्राकृतीकरण के कारण है, यथा जज्झ्–<हस्–। क्षर् की झर् रूप में उपस्थिति भी विशेष रोचक है. क्योंकि म. भा, आ. में क्ष्<झ् रूप में परिवर्तन हो गया है और प्रा. भा. आ. पदावली में समाविष्ट कर लिया गया है ।

मूर्धन्य वर्णों के सम्बन्ध में शब्दों का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्ग और है जिसमें म. भा. आ. का प्रभाव स्पष्ट दीखता है। जबकि प्रा. भा. आ. सामान्यत: व्यंजन–समुच्चय में मूर्धन्य वर्णों के साथ दन्त्य वर्णों का संयोग होने पर ष्टुत्व का विधान करती है, वहां म. भा. आ. इस प्रक्रिया को स्वर-मध्यग दन्त्य वर्णों या ट् या ल् ध्वनियों के योग में अथवा स्वरात्मक ऋ के पश्चात् आने वाले दन्त्य वर्णों में उक्त विधान करके अपनी विशिष्टता स्थिर करती है। अन्यत्र<कट—कृत प्रकार पहले ही विवेचित हो चुका है। अन्य उदाहरण जिन्हें यहाँ उद्धत करना हैं, वे. इस प्रकार है, वैं. कर्त छिद्र>(काट–); संहि. अवट 'छिद्र' <वैं. अवर। संहि. कट–चटाई—कृत्–'कातना,' ब्रा. आढ्य–

'धनी <वै. ऋध्–'बढ़ना'। पठति <पृथति तुल. वै. प्रथति, प्रथते; उप. मुंह <
<वै. मृद्–; गुण्ठयति 'ढकता है' <गृन्थति (बांधता है), तुल. ग्रथ्नाति, ग्रन्थति; छोटयति' 'मरोड़ता है,' चुट्–, चुड् <चृत्–, चृत्–(निकाल फेंकना); 'नटति' नाचता है' <नृतति, तुल, नृत्यति।

धा. पा., अट्टति, अट्टयते : कष्ट देता है : आ, आर्त-दुःखी, 'बौ. सं. अण्ठति <सं अर्थते, कुट्टयति, (विभक्त करता है, कुचलता है) <कृन्तति, कर्तति, इसी के समानान्तर रूप चृत् से चुट्–चुट्ट, चट्ट चुण्ड–चुण्ट्, जैसे रूप जिनका अर्थ फिसलना, छोटा करना, कांटना 'होता है, पाए जाते हैं। इसी प्रकार कोशीय रूप गण्डयित्नु <गर्दयित्नु उसी विशेषता की ओर संकेत करते हैं।

उक्त अन्तिम म. भा. आ. के भाषागत विकास का एक विस्तार हो सकता है जो आद्य प्रा. भा. आ. रूपों में विद्यमान था। क्योंकि पहले से ही हम प्रा. भा. आ. रूपों में मूर्धन्य वर्ण पाते हैं, जबकि अन्य सजातीय भारोपीय भाषाओं में र स्वन के पश्चात् दन्त्य वर्णों का विधान पाया जाता है तथा वै., कटुक < परवर्ती कटु–, लिथुआनी–कर्तुस् 'कटु'। फाचुनेख ने यह प्रयोग द्वारा प्रमाणित कर दिया है कि प्रा. भा. आ. में उक्त प्रकार का प्रतिवेष्टन देखने में आता है, जबकि सजात भारोपीय भाषाओं में दन्त्य वर्णों से पूर्व ल् स्वन मिलता है : यथा खण्ड–, ग्री. क्लदरस, स्केल्देति। जोकि इतिहास प्रसिद्ध प्रा. भा. आ. में विलुप्त हो चुका था, म. भा. आ. में सुरक्षित रह गया और इस प्रवृति के अनेक शब्दों को पृथक् कर दिया जिन्हें बाद में प्रा. भा. आ. में' नवीन स्थान मिला।

हम सामान्यतः यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जहां-कहीं प्रा. भा. आ. में प्राप्त मूर्धन्य वर्णों को पूर्व प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा-दशा में आरम्भिक ल्–स्वन के आधार पर स्पष्ट नहीं किया जा सकता, हम निश्चित रूप से यह आशा करते हैं कि वे म. भा. आ. से या तो आदत्त रूप में या स्वयं म. भा. आ. में आगत शब्द के रूप में मिला लिए गए हैं।

लौकिक संस्कृत के 'सुन्दर' में भाषाविदों का कथन है कि उक्त शब्द वैदिक 'सूनर' का विकास है जिसकी मध्यवर्ती स्थिति 'सुन्दर' है, वैश्वान्दर <' वैश्वानर पहले ही अभिलेखों में मिलता है।

वृ के स्थान में रु का परिवर्तन भी म. भा. आ. की विशेषता है, जिसके लिए जो अत्यन्त प्रसिद्ध उदाहरण उद्धत किए जाते हैं, वे हैं–वृक्ष–>रुकार (तुल. अशोक लुक्ष–, पालि रुक्ख) और रुध् <वृध्–'जाना'। लेकिन ग्रे का विस्तृत अध्ययन प्रथम उदाहरणों के लिए भिन्न भारोपीय निरुक्तियां प्रस्तुत करता है। (जे. ए. ओ. एस. ६०.३६१. ९)—जर्नल आफ अमेरिकन ओरि-

एन्टल सोसायटी।

ज् के स्थान पर य, मागधी में निम्न उदाहरण में यह स्थिति इस प्रकार है–यामातृ <जामातृ–, यामि<जामि–।

इसी प्रकार य् और व् का विनिमय भी म. भा. आ. की अतिव्यापक विशेषता है जोकि प्रा, भा. आ. के अनेक शब्दों में पाई जाती है। यजुर्वेद इस परिवर्तन को प्रदर्शित करता है, यथा–आततायिन्–और आतताविन् 'हिंसक' शृकायिन्–; शृकाविन्; और भी द्रष्टव्य है–मैं. सं. मनायी : का. रा. आ. मनावी; तै. सं. अहन्त्याय: का. अहन्त्वाय:

दन्त्य वर्ग का ह्रास भी म. भा. आ. की अति विचित्र, परन्तु एक निजी विशेषता है। अनेक प्रा. भा. आ. के सुपरिचित शब्दों में ल्ल् के स्थान पर ल् साक्ष्यंकित होता है : अ. वे. क्षुल्लक<क्षुड्ल जोकि वा. सं. क्षुद्र–'छोटा' का उपरूप है, कोशीय मल्ल<मद्ल–यथा भद्र मांगलिक', और इसी प्रकार लौ. सं. पल्लव–पद्+लव।

ल्य् के स्थान पर म. भा. आ. ल्ल् : सू. शल्लक–<वा. सं. शल्यक–महाकाव्य मल्ल–व्यायामी <मल्य– (तुल. बल–शक्ति), इसी प्रकार ल्व के स्थान पर म. भा. आ. ल्ल् लिखित रूपों में पाया जाता है, यथा लौ. सं. नल्व, 'फर्लांग तथा सू. पल्वल के स्थान पर क्रमश:>नल्ल, पल्लल–।

प्रा. भा. आ. में म् और व् का विनिमय भी म. भा. आ. की विशेषता के कारण है जोकि पर्याप्त रूप से बार बार घटित होता है : तै. आ. स्मंच्–< वै. स्वंच्– (तुल. वै. तुवम्<पा. तुमम् मै. सं. धमनी<आप. श्रौ. धवनी(–म्-व्) या वा. सं, रम्णातु—तै. सं. रण्वतु।

म. भा. आ. की एक और विशेषता है स्वर-मध्यग एक मात्र ध् की स्पर्शता का निश्चित लोप–महै–महि, महे,–वहे,–वहि,–वहै अन्त्य प्रत्ययों में देखा जाता है और अन्य सजातीय भारोपीय भाषाओं में साक्ष्यंकित होता है<अवे–मेदे,–मेदी, ग्रीक मेथे। दूसरी ओर आज्ञार्थक मध्यम पुरुष, एक वचन–धि अपने समानान्तर लघु कृत रूप हि के साथ प्रयुक्त पाया जाता है। स्पर्शता का इस प्रकार का लोप अनेक सवादी शब्दों में देखा जाता है : हित–<धित, प्रकृति धा<सह–समस्त पदों में, रोहित्–, रोहित–लोहित–'रक्त' <: लोध 'रक्त पशु', अ. वे. रुधिर–'लाल', ग्री. एरोश्र्स, जर्मन रोद्; गहते, गाह–<गाध–,रोहस्–रोधति, म् और ह् में भी विनिमय दृष्टिगोचर होता है; हस्त—गृह्य—<गृभ्—, ककुह—<ककुभ्—वर्जे—ह—'ऊंचा' पर प्रत्यय के साथ—ह—म—वेद में साक्ष्यंकित: ऋषभ—। कुछ समानान्तर रूपों में घ् और ह्' के बीच विनिमय देखा जाता है<अर्घ्< :—अर्ह—।

प्रा. भा. आ. में लोकप्रचलित बोली-सम्बन्धी संघातों के अनेक उदाहरण दिए जा चुके हैं : लो. वाह्—: वै. परवर्ती बाध—'सताना' धा. पा. श्रंह्—<वै. श्रम्भ्—'विश्वास करना, भरोसा करना सहाय—'साथी, सहायक'<वै. सखायम् 'मित्रता', लो. सिहाणक—'श्राम'—शृङ्खांन—, धा. पा. सुह् 'प्रसन्नता का अनुभव करना'<वै. सुख—। इसी प्रकार हावभाव के प्रयोग में प्रा. भा. आ. भाव द्वारा प्रथम अवयव>हाव म. भा. आ. का समावेश है। इसी से मिलता जुलता लो. हेल, (कोशीय) हेलि 'खेलकूद'—<खेल, खेलि (प्रा. भा. आ. पर म. भा. आ. के प्रभाव के कारण)।

यदि हम शब्दों की उस विविधता पर विचार करें जोकि म. भा. आ.—बोलियों से प्रा. भा. आर्य भाषा में समाविष्ट कर ली गई है, हमें तत्क्षण यह ज्ञात हो जाएगा कि उन शब्दों की पर्याप्त रूप में बड़ी संख्या है जो कि हमारी इस मान्यता को समर्थित करती हैं कि लोक-प्रचलित बोलियां प्रा. भा. आ. विशेष रूप से म. भा. आ. बोलियों पर लगातार प्रभाव बनाए रहीं। उपर्युक्त विचार-विमर्श सामान्यतः मुख्य रूप से वैदिक साहित्य से लेकर सम्यक् प्रमाणित शब्दों को ध्यान में रखकर चलता है। "यदि हम बौद्ध या जैन संस्कृत या परवर्ती कोश-विषयक कृतियों तक ही अपने विचार-विमर्श को सीमित रखें, तो उस प्रकार के समावेशनों की संख्या उनके आधुनिकता के आयामों में और भी बढ़ जाती है पर हमने अपने सर्वेक्षणों में तो अपने को उन समावेशनों में प्राप्त ध्वन्यात्मक परिवर्तनों को खोज निकालने में ही लगाया है। अभी तक प्रा. भा. आ. पर म. भा. आ. के शब्दार्थ-विषयक प्रभाव का अध्ययन सुसंगत रूप से नहीं हुआ है, पर यह आशा व्यक्त की जाती है कि उस प्रकार के परिवर्तन भी कम नहीं होंगे।

हमें अब अपना ध्यान म. भा. आ. के उस बहुविध योगदान पर केन्द्रित करना है जो कि उसने भारत की आधुनिक आर्य देशी बोलियों के (जिन्हें अधिक तकनीकी रूप से नवीन भारतीय आर्यभाषा नाम दिया जाता है) विकास की दिशा में किया है। यद्यपि म. भा. आ. के बिल्कुल असदृश न. भा. आ. संस्कृत आगत शब्दों के अधिक अनुपात के रूप में प्रा. भा. आ. का लगातार प्रभाव प्रदर्शित करती है, प्रत्येक न. भा. आ. आर्य बोली या भाषा की गृहीत शब्दावली पर्याप्त रूप से बड़ी है। न. भा. आ. की एक बहुत छोटी शाखा, नेपाली भाषा, अपने साहित्य के साथ प्रोफेसर टर्नरकृत कोश में लगभग २६,००० निविष्टियों को दर्ज करती है, उनमें से टर्नर के विचार के अनुसार ५,००० से अधिक शब्द यह प्रदर्शित करते हैं कि वे सम्भवतः म. भा. आ. के द्वारा संस्कृत में संवादी शब्दों से प्राप्त हुए हैं। ये शब्द नेपाली,

संस्कृत और म. भा. आ. के बीच बिल्कुल नियमित संवादिता प्रदर्शित करते हैं। इससे समस्त शब्दावली के उन्नीस प्रतिशत भाग का प्रतिनिधित्व होता है। नेपाली में आगत शब्दों का अधिक प्रतिशत भाग (और इसके लिए तो कोई भी न. भा. आ.) स्वभावतः संस्कृत से ही आया है।

गृहीत शब्दों की निरुक्तियों का जहां तक सम्बन्ध है, टर्नर का निम्न कथन बड़ा रोचक सिद्ध होगा, 'गृहीत शब्दों के लिए तो पहले संस्कृत शब्द दिए गए हैं जिससे कि वे उद्भूत हैं, इसके बाद मध्यकालीन भारतीय रूप (पालि, प्राकृत आदि) रखे गये हैं जो कि उनसे अभिनिश्चित किए जा सकते हैं और अंत में उसी क्रम का अनुसरण करते हुए अन्य भारतीय आर्य भाषाओं के सजातीय शब्द दिए गए हैं। कुछ स्थलों में तो केवल मध्यकालीन भारतीय रूप ही दिए जा सकते हैं (और जब संस्कृत शब्द उद्धृत किया भी जाता है तो यह प्रायः मध्यकालीन भारतीय शब्द का परवर्ती संस्कृतीकरण ही हो सकता है)। अन्य उदाहरणों में प्राचीन रूप बिल्कुल सुलभ नहीं होता, अन्य आधुनिक भाषाओं के केवल सजातीय रूप ही मिलते हैं। इस श्रेणी के शब्दों के साथ, भारतीय आर्यभाषा की ध्वनिविकासात्मक समता के आधार पर एक आनुमानिक रूप पुनर्निर्मित (पुनराकलित) करना उपयुक्त लगता है जो सम्बद्ध शब्द के इतिहास को कुछ और पीछे ले जाए तथा अन्य स्रोत से उसके मूल को सिद्ध करने के लिए किसी और जांच-पड़ताल को बल दे सके।"

ऐसे कुछ उदाहरण जिनमें निरुक्ति केवल पीछे की ओर म. भा. आ. रूपों तक ही पहुंचती है, इस अर्ध-विकसित साहित्यिक माध्यम-वाली नेपाली भाषा के लिए नितान्त अधिक हैं। यदि इन टीका-टिप्पणियों को अधिक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक माध्यम से सम्पन्न तथा वृहत्परिणाम के साहित्य एवं विकास की लम्बी अवधि से युक्त बंगाली, मराठी या गुजराती भाषाओं में लगाया जाए, उनकी संख्या आश्चर्यजनक रूप से बढ़ जाएगी। म. भा. आ. के अधिसंख्य शब्द जो कि प्रत्यक्षतः प्रा. भा. आ. के साथ अपना कोई भी सहज सम्बन्ध नहीं प्रदर्शित करते, फिर भी उन्होंने नवीन भारतीय आर्य भाषाओं पर अपना असाधारण चिह्न छोड़ रखा है।

अपने गृहीत रूप में जहां तक न. भा. आ. की पदावली का सम्बन्ध है, हमें विकास के दो स्रोत मिलते हैं : (अ) म. भा. आ. द्वारा प्रा. भा. आ. से तथा (ब) केवल मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा से। इस समय जो सामग्री सुलभ है, उसके आधार पर उसके आरम्भिक इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत कर पाना सम्भव नहीं।

सम्बद्ध प्रसंगों पर विचार-विमर्श करने के पूर्व, अलग-अलग विवरणों में विस्तार से गए बिना, हम यहां सामान्य न. भा. आ. की प्रमुख भाषागत विशेषताओं को संक्षेप में परिगणित करेंगे। निम्न सामान्य तथ्यों को हमें ध्यान से देखना है :

(१) कुछ सामान्य स्थलों को छोड़कर जिनमें अन्तिम स्वर के अवशेष देखने में आते हैं, म. भा. आ. से विरासत में प्राप्त अन्तिम स्वरों का सामान्य ह्रास और लोप।

(२) परिणाम में उपधा या उपान्त्य स्वर को बनाए रखना।

(३) आरम्भिक अक्षरों को छोड़कर उपधा के पूर्ववर्ती स्वरों का लोप, वह भी उदासीन स्वर अ (जो कि आगे चलकर वर्तमान उच्चारण में विसर्पित होता है) की अपेक्षा समस्त स्वरों के ह्रास द्वारा।

(४) म. भा. आ. से प्राप्त आरम्भिक अक्षर की विशेषता को सामान्यतः बनाए रखना।

(५) म. भा. आ. के दोहरे व्यंजनों का इकहरे व्यंजनों में रूपान्तरण (पंजाबी को छोड़कर) तथा आरम्भिक अक्षर में स्वर का प्रतिपूरक दीर्घीकरण (सिंधी को छोड़कर जहां स्वर का मौलिक प्रा. भा. आ.--परिमाण सुरक्षित रहता है)।

(६) उन विभक्तियों के स्थान पर--जो कि अपभ्रंश-दशा में पहले ही विलुप्त हो चुकी हैं और संख्या में दो बच रही हैं : अविकारी और विकारी विभक्ति, भूत और भविष्य काल के लिए कृदन्त क्रिया-रचना --शब्दार्थ-विषयक सम्बन्ध को अभिव्यक्त करने के लिए शब्दरूप-प्रक्रिया में परसर्गों का बढ़ता हुआ प्रयोग।

अलग-अलग उदाहरणों का अध्ययन रोचक और शिक्षाप्रद दोनों ही है। कुश्ती का स्थान, खेल का मैदान, व्यायाम का स्थान' के लिए न. भा. आ.-सजातीय इस प्रकार है : गुज. अखाड़ों, मरा. अखाड़ा, हि. अखाड़ा, ने. अखारा। इसमें नेपाली रूप हिन्दी का आगत शब्द है। टर्नर इन रूपों को पालि के अक्खवाटो, 'कुश्ती के स्थान के चारों ओर का घेरा' से जोड़ते हैं। अपने सिद्धांतों के अनुसार उन्हें उक्त सभी रूपों को संस्कृत 'अक्षवाट' से उद्भूत बताना चाहिए था, परन्तु चूंकि यह शब्द केवल कोश-रचनाविषयक कृतियों में ही प्राप्त होता है, उन्होंने इसे पालि-साहित्य से प्राप्त उक्त शब्द से जोड़ दिया। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या पालि अक्खवाट संस्कृत अक्षवाट से उद्भूत हुआ है या इसका उल्टा सत्य है। प्रथम विकल्प के सम्बन्ध में टर्नर का यह कथन है कि कश्मीरी अकहार, ख के साथ छ के साथ नहीं, एक

गृहीत शब्द है और मराठी अखाडा भी ख के साथ स् के साथ नहीं, एक गृहीत शब्द है, क्योंकि कश्मीरी और मराठी के म. भा. आ. प्रभुत्व के कारण प्रतिकूल ठहरता है। परन्तु इस निरुक्ति-परक समता को सामने रखने में पंजाबी अखाड़ा के सम्बन्ध में कोई टिप्पणी नहीं की गई जिसका ख् म. भा. आ. के इकहरे स्वरमध्यवर्त्ती ख, तक पहुंचता है। क्योंकि पालि 'अक्खवाट' का क्ख् सामान्यतः पंजाबी में बना रहेगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार ने पालि-क्ख-से यह संकेत मिलता है कि सम्बद्ध शब्द हिन्दी से आया है, बिल्कुल इसी प्रकार पंजाबी के ख् से भी यह संकेत मिलता है कि सम्बद्ध शब्द उसी स्रोत से गृहीत शब्द है। एक अन्य कोश-सम्बन्धी शब्द भी है—'अक्षपातः' जिसे टर्नर म. भा. आ. 'अक्खवाड़' का संस्कृतीकरण मानते हैं। दूसरी ओर यदि पालि 'अक्खवाट' को न. भा. आ. का मूलाधार मान लिया जाए तो कश्मीरी और मराठी की ख् की अड़चन मिट जाती है और म. भा. आ. 'अक्खवाड़' से प्रसामान्य गृहीत रूप प्राप्त हो जाते हैं जो कि (अक्खवाड़) संस्कृत कोशों में 'अक्षपात' या 'अक्षवाट' रूप से अतिसंस्कृतीकृत रूपों में मिलते हैं। इस प्रकार न. भा. आ.-शब्दावली और प्रा. भा. आ. दोनों में यह म. भा. आ. का योगदान है।

साधारण घरेलू चीजों के लिए प्रयुक्त बहुत से शब्द प्रा. भा. आ. के विरोध में म. भा. आ. के मूल को सिद्ध करते हैं। इस प्रकार मरा. गुज. गादी 'उच्च आसन' पं. गद्दी, हि. गदी 'तोषक' 'इन सभी का म. भा. आ. के गद्द' या 'गर्द' से सम्बन्ध है जो कि अन्ततः प्रा. भा. आ. के 'गर्त' उच्च शासन' से जुड़ भी सकता है और नहीं भी। समान प्रकृति के शब्द हैं—न. भा. आ. गाजर, गाड़ी, गारी गारे, <गड्डी, गाय, गाइ, <गावी, गारा, गारो, गार <गाड़–, एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण शब्द है न. भा. आ. 'घर' <म. भा. आ. 'घर' (प्रा. भा. आ. 'गृह-नहीं) <भारोपीय घोरोस्-आग, चुल्हा, ताप'। इस अध्याय में यह हमारे लिए आवश्यक नहीं है कि इस प्रकार के शब्दों की सही संख्या पर आगे बढ़ें। टर्नर के नेपाली कोश के प्रत्येक पृष्ठ पर ऐसे बहुत से नेपाली शब्द मिलेंगे जोकि प्रा. भा. आ. से निर्गत नहीं हैं, लेकिन न. भा. आ. में प्राप्त विभिन्न सजातीय शब्दों के द्वारा प्रदर्शित करते हैं कि वे किसी-न-किसी म. भा. भाषा-रूप से निकले हैं। टर्नर ने स्वयं इन रूपों को अभारोपीय, अनिश्चित या अज्ञातमूलक माना है। लेकिन और अधिक शोध यह सिद्ध कर देगा कि इनमें से अधिसंख्य म. भा. आ.-- गुण के हैं, उदाहरण के तौर पर 'अंगौच्छा' लिया जा सकता है जोकि अपने पूर्ववर्ती' अंग-पुञ्छ,- अंग+पुछ प्रा. भा. आ. 'प्रौंछति' से जुड़ा है।

ऐसे शब्दों की लम्बी सूची, बिना किसी और बात को प्रमाणित किए केवल इस अध्याय के कलेवर को ही बढ़ाएगी। और न ऐसे प्रमाण को देखने की आवश्यकता ही है जो कि अब तक सुस्पष्ट हो चुका है; वह यह कि म. भा. आ. का भाषावैज्ञानिक दृष्टि से प्राचीन और नवीन भारतीय आर्य-भाषाओं के निर्माण में स्पष्ट योगदान है और वह एक मज़बूत कड़ी है जो कि प्राचीन और नवीन को जोड़ती है।

चूंकि प्राकृत वैयाकरणों ने जब-जब अपनी पुस्तकें संगृहीत की थीं, उस समय तक तुलनात्मक व्याकरण का विकास नहीं हो पाया था, बहुत से ऐसे शब्द जो उस काल की देशी भाषाओं और प्राकृत साहित्य दोनों में पाए जाते थे, उनके द्वारा देशी शब्द या धात्वादेश के रूप में वर्गीकृत हुए थे। उनका अन्तिम मूल-भारोपीय, भारत-ईरानी, भारतीय-आर्य या भारतीय जो भी रहा हो, वे अधिकांश म. भा. आ. से ही आए हैं और इस अर्थ में म. भा. आ. ने न केवल गत भारतीय आर्य-भाषा के उत्कृष्ट शब्दों को हाथोंहाथ आगे बढ़ाया है, बल्कि इस समाविष्ट सामग्री को समृद्ध भी किया है। उन सूत्रों को जो कि बहुत सटकर और सुगठित रूप में फैल रहे हैं, सुलझाना विशेषज्ञ के अध्ययन का क्षेत्र है जिसका हमने यथा सम्भव अपारिभाषिक या सामान्य रूप में यहां संग्रह किया है।

५

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा-साहित्य का कला और विज्ञान की दिशा में योगदान

म. भा. आर्य भाषा-साहित्य के विस्तार का दूसरे अध्याय में विविध विशिष्ट शीर्षकों में तथा चतुर्थ अध्याय में प्राचीन तथा नवीन भारतीय आर्य भाषाओं और उनकी बोलियों पर इन उपभाषाओं के सामान्य प्रभाव का हमने विहगावलोकन किया है। लेकिन सामान्य भारतीय संस्कृति पर मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के सांस्कृतिक योगदान का चित्र तब तक पूरा नहीं माना जाना चाहिए यदि हम सत्रह शताब्दियों के दौरान गौतम बुद्ध और महावीर के प्रादुर्भाव-काल से भारत के सांस्कृतिक जीवन पर पड़े उनके प्रभाव के प्रकार एवं योगदान की विविधता को ध्यान में न रखें। यह कभी सोचा भी नहीं जा सकता कि इन केवल मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं ने इस समूची अवधि में मौलिक श्रेणी की सांस्कृतिक राजनीतिक और धार्मिक उपलब्धियों के लिए इतना योगदान किया, क्योंकि जब धार्मिक और सामाजिक सुधारों को जन-सामान्य तक पहुँचाने और अभिलेखों द्वारा उनके उद्घोषित करने के लिए अभिव्यक्ति के सामान्य माध्यम के रूप में मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं को आवश्यक बना दिया गया, प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं की सामान्य पृष्ठभूमि का (जिसका प्रतिनिधित्व लौकिक संस्कृत करती थी)

अपरिहार्य प्रभाव शिष्टजनों पर बना रहा। यद्यपि उसमें अस्थायी ह्रास देखने में आता रहा, फिर भी उसने भव्य गुप्तयुग के दौरान साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में कुछ समय के लिए पुनः महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। इस प्रकार बौद्ध और जैन धर्म के विधान की प्रथम छः शतियों के बीच भारतीय षड्दर्शन को सूत्र रूप में उपनिबद्ध करके पुनरुज्जीवित किया गया और इसी प्रकार गद्य में निबद्ध संस्कृत साहित्य के उत्कृष्ट ग्रन्थ तथा संस्कृत व्याकरण का सबसे बड़ा प्रमाणग्रन्थ पतंजलि का महाभाष्य ईसापूर्व द्वितीय शती में रचे गए। यद्यपि आरम्भिक ईसवी शतियों के कवियों और नाटककारों का काल अब भी विवाद-ग्रस्त है, फिर भी अश्वघोष को प्रथम ईसवी शती में निश्चित रूप से रखा जा सकता है। इस प्रकार हमे वैदिक युग से लेकर प्रा. भा. आ. के साहित्यिक क्रिया-कलापों की निरन्तरता देखने को मिलती है जोकि शतियों के बीतने के साथ-साथ धीरे-धीरे विकसित होती चल रही थी और फिर से किसी एक शतक या एक राज्य में तीव्रगति से प्रगति कर रही थी, जिसके विकास की प्रक्रिया में कभी मन्दता और कभी वेग के रूप में घट-बढ़ देखने में आती थी। हमारे लिए यहां यह सम्भव नहीं है कि हम भारतीय साहित्य के जटिल इतिहास को प्रभावित करने वाले कारणों की खोजबीन करें। यह तो ऐसा विषय है जिस पर दीर्घकालीन शोध और पाठ्य ग्रन्थों की उच्च समीक्षाएं ही अपने पर्याप्त साधनों से प्रकाश डाल सकती हैं। इस स्थिति में हमारे लिए जो वस्तुतः सम्भव है वह यह कि हम यह देखें कि मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा-साहित्य किस रूप में विकसित हुआ है, किस काल में वह अत्यधिक शक्तिशाली रहा है तथा उस साहित्य ने कला और विज्ञान की दिशा में एवं साहित्य के सांस्कृतिक जीवन के सामान्य निर्माण में कितना मौलिक योगदान किया है।

ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपि को बाँचने और उसकी व्याख्या प्रस्तुत करने में म. भा. आ. का अनुस्मरण भी बड़ा रोचक है। अफगानिस्तान और पंजाब के एक भाग पर ईसा पूर्व द्वितीय शती से ईसा पूर्व २५ साल तक शासन करने वाले यूनानी राजकुमारों द्वारा ढलवाये गये द्विभाषी सिक्कों से गूढ़ाक्षर-वाचन का संकेत मिला था। इन सिक्कों के चेहरों पर नियमित रूप से एक यूनानी आख्यान अंकित होता था जिसका अनुवाद सिक्कों के दूसरे पहलू पर म. भा. आ. और भारतीय किसी एक लिपि में हुआ था। पिशेल के द्वारा भारतीय रूप में लिखित राजाओं के नामों का उनके यूनानी समानार्थकों के साथ पहचान लिया जाना इन वर्णमालाओं के पढ़े जाने की दिशा में पहला कदम था। इस तरह जो धीरे-धीरे संकेत मिलते गए उन्होंने सिक्कों पर

अंकित भारतीय पदवियों की व्याख्या का उनके यूनानी समानार्थकों के साथ मार्ग प्रशस्त कर दिया तथा प्रस्तरों एवं ताम्रपत्रों पर खुदे हुए भारत के अनेक भागों में प्राप्त लम्बे अभिलेखों के वाचन का काम अनेक वर्षों के धैर्यपूर्ण प्रयत्नों और शोधों ने सरल कर दिया। इस प्रकार यद्यपि लिपियाँ निश्चित रूप से म. भा. आ. के सम्बद्ध नहीं थीं, परन्तु सिक्कों पर अंकित म. भा. आ. आख्यानों ने इन लिपियों के मूल्य को सिद्ध कर दिया।

प्राचीन भारत के इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए जिन स्रोतों से सामग्री प्राप्त होती है, उन मूल स्रोतों पर यदि ध्यान दिया जाए, वे संख्या में तीन प्रकार के हैं : (क) ब्राह्मणों, जैनों और बौद्धों का साहित्य, (ख) प्रस्तरों और ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण लेख, सिक्के मुहर तथा (ग) विदेशी लेखकों के विवरण जिनमें यूनानी, लातीनी और चीनी प्रमुख थे। इनमें से जैनों और बौद्धों का साहित्य मुख्यतः म. भा. आ. बोलियों में मिलता है। ईसा पूर्व चतुर्थ शती से ईसा के बाद चौथी शती तक प्रमुख अभिलेखों और सिक्कों पर समान रूप से म. भा. आर्य भाषाओं का प्रयोग देखने में आता है। वैसे आद्य ऐतिहासिक भारत के पुनर्निर्माण के सम्बन्ध में प्रा. भा. आ. की सामान्यतः स्वीकृत महत्त्वपूर्ण स्थिति के बारे में कोई भी विवाद प्रस्तुत नहीं करता, परन्तु जब तथाकथित ऐतिहासिक युग मे प्रवेश करते हैं, जिसका आरम्भ बुद्ध और महावीर के धर्म-विधानों से होता है, तो उक्त स्थिति को चुनौती देने की पूरी संभावना उठ खड़ी होती है। यद्यपि हाल के अनुसंधान परम्परागत इतिहास के लिए पुराणों की स्थिति को एक अच्छे स्रोत के रूप में महत्त्व देते हैं फिर भी उन्होंने असंदिग्ध रूप से यह सिद्ध कर दिया है कि म. भा. आ. स्रोतों पर आधारित समानान्तर साक्ष्य जो बौद्ध और जैन ग्रन्थों में उपलब्ध हैं प्राप्त परिणामों के परीक्षण और रूपान्तर-विधान के लिए प्रथम श्रेणी के महत्त्व का है। वस्तुतः एक समय तो आरम्भिक भारतीय साहित्य के पुनर्निर्माण के लिए बौद्ध स्रोतों पर अत्यधिक विश्वास करने का फैशन हो गया था। यद्यपि वह स्थिति अधिक समय तक मान्य न रही फिर भी भारत के महान् अतीत के मूल्यांकन के लिए विशेषतः ऐतिहासिक युग के आरम्भ के दौरान म. भा. आ. साहित्य का महत्त्व आज भी स्वीकार किया जाता है।

इसके पूर्व कि हम कला और विज्ञान के क्षेत्र में प्राचीन भारत के सांस्कृतिक जीवन की दिशा में म. भा. आ. द्वारा किए गए योगदान पर अपना ध्यान केंद्रित करें, हमें पूर्व अध्यायों में पहले से ही विवेचित भाषागत पहलू पर कुछ विचार कर लेना चाहिए। जबकि प्रा. भा. आ. की बोलियों का अध्ययन करने के लिए आज हमें बहुत कम सामग्री सुलभ होती है जिसके जब-

तव अवशेष अब भी वैदिक साहित्य में उपलब्ध हो जाते हैं, यह सुस्पष्ट है कि म. भा. आ. अपनी भाषागत सामग्री में अत्यन्त समृद्ध है। वस्तुतः ईसापूर्व तृतीय शती से ईसवी चतुर्थ शती तक साहित्यिक प्राकृतों के विशाल भाग को ध्यान में न भी रखें, फिर भी समृद्ध अभिलेखीय सामग्री के सम्बन्ध में भारत के आरंभिक ऐतिहासिक काल की देशी बोलियों का अच्छा चित्र मिल जाता है। यद्यपि इस काल में प्रा. भा. आ. का सामान्य रूप से प्रतिनिधित्व लौकिक संस्कृत के द्वारा किया जा रहा था, जो कि (जहां तक उसकी व्याकरण का सम्बन्ध है) पहले से ही रूढ़ हो चुकी थी, फिर भी हम यह पाते हैं कि भारतीय आर्य बोलियों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए म. भा. आ. एक सुदृढ़ आधार प्रस्तुत करती है। परिचयात्मक अध्याय में हमने पहले ही यह उल्लेख कर दिया है

में बनाए रखा और जो बड़ी ईमानदारी से देश की जन-भाषाओं को प्रोत्साहन देते रहे। इसका यह अर्थ नहीं होता कि लौकिक संस्कृत-साहित्य और प्रा. भा. आ. की दशा में जैनों का योगदान कम है। इस विशेष क्षेत्र में भी संस्कृत साहित्य के इतिहास में उनका एक सम्मानपूर्ण स्थान है, जो कि संस्कृत पांडुलिपियों की तालिका से ज्ञात हो जाता है। उदाहरण के तौर पर दक्षिण भारत में आरम्भिक देशी भाषा-साहित्य सम्पूर्ण रूप से या करीब-करीब पूरे तौर से जैन-चेतना से प्रभावित है; विशेष रूप से कन्नड़ और तामिल उस प्रकार की आरम्भिक रचनाओं में समृद्ध है।

म. भा. आ साहित्य के लिए प्रमुख क्षेत्र हमेशा धार्मिक रहा है, इस प्रकार अशोक के अभिलेखों से लेकर (जो कि प्रस्तर पर उत्कीर्ण म. भा. आ. के प्राचीनतम दस्तावेज हैं) हम यह पाते हैं कि इन अभिलेखों का मुख्य उद्देश्य धम्म (धर्म) को हृदय में जमाना था जो कि इस लोक और परलोक दोनों में जीवन का सत्य आधार होता है। यह तो केवल प्रसंगवश और स्पष्टीकरण के लिए है कि ऐहलौकिक पक्षों का भी उसमें उल्लेख है, और इस क्षेत्र में भी वे पर्याप्त रूप से जागरूक हैं कि भारत में मौर्य-शासन के उज्ज्वल काल का पुनर्निर्माण करने के लिए इतिहासकारों को आधार दें। स्वभावत: पालि और अर्धमागधी साहित्य में मानवता के दो महान् शिक्षक बुद्ध और महावीर की दार्शनिक, धार्मिक और नैतिक शिक्षाएं समाविष्ट हैं। केन्द्रीय नैतिक प्रत्यय जिसे इन दोनों धर्मों ने महत्त्वपूर्ण माना और जिसकी राष्ट्रीय चेतना पर मुहर लगादी, वह अहिंसा का सिद्धान्त था, जो अहिंसा स्थूल और सूक्ष्म या भौतिक या अतिभौतिक दोनों ही हो सकती है। अहिंसा का विचार वैदिक और प्रारम्भिक भारतीय साहित्य के लिए भी अपरिचित नहीं है, लेकिन यह विशेष प्रभाव जो कि सामान्य रूप से आधुनिक भारतीय के व्यापक दार्शनिक दृष्टिकोण की विशेषता बन गया है, बुद्ध और महावीर की सीधी शिक्षा का अधिक प्रत्यक्ष परिणाम है जो कि आरम्भ में म. भा. आ. साहित्य में समाविष्ट था, और बाद में आर्य भारतीय और द्रविड़-कुल की आधुनिक अवभाषाओं में उपनिबद्ध होकर समूचे उप महाद्वीप में फैल गया। यही वह प्रभाव है जो कि अहिंसा के आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त में विचार, वचन और कर्मों में भी देखा जा सकता है।

परन्तु जिस ढंग से ये महान् धार्मिक सिद्धान्त जन-साधारण तक पहुंचाए गए, वह इस आरम्भिक म. भा. आ. साहित्य की विशिष्ट विलक्षणता ही प्रतीत होती है। नीति-कथाएँ, दृष्टान्त और कहानियाँ प्रत्येक सिद्धान्त को सुविवेचित तर्कशास्त्रीय युक्तियों की अपेक्षा अधिक उत्तम रीति से और कहीं और विशद

में बनाए रखा और जो बड़ी ईमानदारी से देश की जन-भाषाओं को प्रोत्साहन देते रहे। इसका यह अर्थ नहीं होता कि लौकिक संस्कृत-साहित्य और प्रा. भा. आ. की दशा में जैनों का योगदान कम है। इस विशेष क्षेत्र में भी संस्कृत साहित्य के इतिहास में उनका एक सम्मानपूर्ण स्थान है, जो कि संस्कृत पांडुलिपियों की तालिका से ज्ञात हो जाता है। उदाहरण के तौर पर दक्षिण भारत में आरम्भिक देशी भाषा-साहित्य सम्पूर्ण रूप से या करीब-करीब पूरे तौर से जैन-चेतना से प्रभावित है; विशेष रूप से कन्नड़ और तामिल उस प्रकार की आरम्भिक रचनाओं में समृद्ध है।

म. भा. आ साहित्य के लिए प्रमुख क्षेत्र हमेशा धार्मिक रहा है, इस प्रकार अशोक के अभिलेखों से लेकर (जो कि प्रस्तर पर उत्कीर्ण म. भा. आ. के प्राचीनतम दस्तावेज हैं) हम यह पाते हैं कि इन अभिलेखों का मुख्य उद्देश्य धम्म (धर्म) को हृदय में जमाना था जो कि इस लोक और परलोक दोनों में जीवन का सत्य आधार होता है। यह तो केवल प्रसंगवश और स्पष्टीकरण के लिए है कि ऐहलौलिक पक्षों का भी उसमें उल्लेख है, और इस क्षेत्र में भी वे पर्याप्त रूप से जागरूक हैं कि भारत में मौर्य-शासन के उज्ज्वल काल का पुनर्निर्माण करने के लिए इतिहासकारों को आधार दें। स्वभावतः पालि और अर्धमागधी साहित्य में मानवता के दो महान् शिक्षक बुद्ध और महावीर की दार्शनिक, धार्मिक और नैतिक शिक्षाएं समाविष्ट हैं। केन्द्रीय नैतिक प्रत्यय जिसे इन दोनों धर्मों ने महत्त्वपूर्ण माना और जिसकी राष्ट्रीय चेतना पर मुहर लगादी, वह अहिंसा का सिद्धान्त था, जो अहिंसा स्थूल और सूक्ष्म या भौतिक या अतिभौतिक दोनों ही हो सकती है। अहिंसा का विचार वैदिक और प्रारम्भिक भारतीय साहित्य के लिए भी अपरिचित नहीं है, लेकिन यह विशेष प्रभाव जो कि सामान्य रूप से आधुनिक भारतीय के व्यापक दार्शनिक दृष्टिकोण की विशेषता बन गया है, बुद्ध और महावीर की सीधी शिक्षा का अधिक प्रत्यक्ष परिणाम है जो कि आरम्भ में म. भा. आ. साहित्य में समाविष्ट था, और बाद में आर्य भारतीय और द्रविड़-कुल की आधुनिक अवभाषाओं में उपनिबद्ध होकर समूचे उप महाद्वीप में फैल गया। यही वह प्रभाव है जो कि अहिंसा के आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त में विचार, वचन और कर्मों में भी देखा जा सकता है।

परन्तु जिस ढंग से ये महान् धार्मिक सिद्धान्त जन-साधारण तक पहुंचाए गए, वह इस आरम्भिक म. भा. आ. साहित्य की विशिष्ट विलक्षणता ही प्रतीत होती है। नीति-कथाएँ, दृष्टान्त और कहानियाँ प्रत्येक सिद्धान्त को सुविवेचित तर्कशास्त्रीय युक्तियों की अपेक्षा अधिक उत्तम रीति से और कहीं और विशद

और आधुनिक सिंहली इसी आरम्भिक प्राकृत से निकली है जोकि दक्षिणी बौद्ध साहित्य की मिश्र पालि से अत्यधिक प्रभावित है। इस तरह धार्मिक और भाषावैज्ञानिक दोनों दृष्टियों से म. भा. आ. इस महान् द्वीप पर छा गई थी जिसे भारत का ही एक भाग समझा जाना चाहिए जोकि शक्तिशाली तथा पूर्णतया विकसित एक भारतीय भाषा-वर्ग अर्थात् द्रविड़ भाषा-परिवार के द्वारा भारतीय आर्यभाषा-परिवार वर्ग से अलग कर दिया गया था। यद्यपि पालि-तिपिटक बर्मा और स्याम भी पहुँचा और उसने मूलतः उन देशों की संस्कृति को प्रभावित किया, परन्तु उक्त अवसर का भाषाई प्रभाव वहां सम्भव न हो सका। लेकिन इस सांस्कृतिक प्रभाव के अवशेष उचित रूप से अभिहित उस बृहत् आर्यभावित क्षेत्र में अब भी पाए जा सकते हैं।

उसी प्रकार हम भारतीय प्राकृतिक सीमाओं के बाहर बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों का प्रसार देखते हैं जो मूल ग्रन्थों के चीनी या तिब्बती पाठान्तरों को या तो लिप्यन्तरण या अनुवाद में प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि बौद्ध संस्कृत एक मिश्रित बोली के रूप में वर्गीकृत की गई है, परन्तु मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की विस्तृत परिभाषा के अनुसार वह एक म. भा. आ. है। परन्तु खोतान में निया या उसके समीपवर्ती क्षेत्रों अथवा चीनी तुर्किस्तान में पाए गए धम्मपद के खरोष्ठी रूपान्तर तथा खरोष्ठी दस्तावेज समसामयिक दृष्टि से दिलचस्प हैं। उनसे यह विदित होता है कि म. भा. आ. ने केवल प्रसिद्ध धम्मपद का विशेष पाठान्तर प्रस्तुत करने के लिए उत्तर-पश्चिमी इलाके में फली-फूली, बल्कि आरम्भिक ईसवी शतियों में उसका एक राजकीय भाषा के रूप में मध्य ऐशियाई क्षेत्रों में भी विस्तार हुआ। यहां यह भी विशेष रूप से समझ लेना चाहिए कि मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा का भारत की प्राकृतिक सीमाओं से भी बाहर विस्तार मुख्यतः बौद्ध गतिविधियों का प्रतिफल है। काफ़ी बाद के समय में इस बात का पता चलेगा कि बृहत्तर भारत में हिन्दू संस्कृति प्रवेश पागई थी, परन्तु भारत बहिःस्थ विस्तार का प्रथम अध्याय बुद्ध के अनुयायियों द्वारा ही लिखा गया।

यद्यपि भारत में बौद्ध सतत रूप से अपने साहित्यिक क्रिया-कलापों के आधिकारिक माध्यम के रूप में संस्कृत का उपयोग कर रहे थे, तथापि वे अपनी मूलभूत संस्कृति तथा साहित्यिक उपलब्धियों के म. भा. आ. आधार को नहीं भूले और यह तथ्य विभिन्न मध्य एशियाई भाषाओं और बोलियों में प्राप्त पाठान्तर और पाठ-संशोधनों में जो अब प्रकाश में आई हैं, देखा जाता है। परन्तु इस सम्बन्ध में हमारा ध्यान विशेष रूप से जैनों की तरफ जाता है जिन्होंने लौकिक और धार्मिक प्रयोजनों के लिए लगातार उपयोग की स्थिति

में बनाए रखा और जो बड़ी ईमानदारी से देश की जन-भाषाओं को प्रोत्साहन देते रहे। इसका यह अर्थ नहीं होता कि लौकिक संस्कृत-साहित्य और प्रा. भा. आ. की दशा में जैनों का योगदान कम है। इस विशेष क्षेत्र में भी संस्कृत साहित्य के इतिहास में उनका एक सम्मानपूर्ण स्थान है, जो कि संस्कृत पांडुलिपियों की तालिका से ज्ञात हो जाता है। उदाहरण के तौर पर दक्षिण भारत में आरम्भिक देशी भाषा-साहित्य सम्पूर्ण रूप से या करीब-करीब पूरे तौर से जैन-चेतना से प्रभावित है; विशेष रूप से कन्नड़ और तामिल उस प्रकार की आरम्भिक रचनाओं में समृद्ध है।

म. भा. आ साहित्य के लिए प्रमुख क्षेत्र हमेशा धार्मिक रहा है, इस प्रकार अशोक के अभिलेखों से लेकर (जो कि प्रस्तर पर उत्कीर्ण म. भा. आ. के प्राचीनतम दस्तावेज हैं) हम यह पाते हैं कि इन अभिलेखों का मुख्य उद्देश्य धम्म (धर्म) को हृदय में जमाना था जो कि इस लोक और परलोक दोनों में जीवन का सत्य आधार होता है। यह तो केवल प्रसंगवश और स्पष्टीकरण के लिए है कि ऐहलौलिक पक्षों का भी उसमें उल्लेख है, और इस क्षेत्र में भी वे पर्याप्त रूप से जागरूक हैं कि भारत में मौर्य-शासन के उज्ज्वल काल का पुनर्निर्माण करने के लिए इतिहासकारों को आधार दें। स्वभावत: पालि और अर्धमागधी साहित्य में मानवता के दो महान् शिक्षक बुद्ध और महावीर की दार्शनिक, धार्मिक और नैतिक शिक्षाएं समाविष्ट हैं। केन्द्रीय नैतिक प्रत्यय जिसे इन दोनों धर्मों ने महत्त्वपूर्ण माना और जिसकी राष्ट्रीय चेतना पर मुहर लगादी, वह अहिंसा का सिद्धान्त था, जो अहिंसा स्थूल और सूक्ष्म या भौतिक या अतिभौतिक दोनों ही हो सकती है। अहिंसा का विचार वैदिक और प्रारम्भिक भारतीय साहित्य के लिए भी अपरिचित नहीं है, लेकिन यह विशेष प्रभाव जो कि सामान्य रूप से आधुनिक भारतीय के व्यापक दार्शनिक दृष्टिकोण की विशेषता बन गया है, बुद्ध और महावीर की सीधी शिक्षा का अधिक प्रत्यक्ष परिणाम है जो कि आरम्भ में म. भा. आ. साहित्य में समाविष्ट था, और बाद में आर्य भारतीय और द्रविड़-कुल की आधुनिक अवभाषाओं में उपनिबद्ध होकर समूचे उप महाद्वीप में फैल गया। यही वह प्रभाव है जो कि अहिंसा के आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त में विचार, वचन और कर्मों में भी देखा जा सकता है।

परन्तु जिस ढंग से ये महान् धार्मिक सिद्धान्त जन-साधारण तक पहुंचाए गए, वह इस आरम्भिक म. भा. आ. साहित्य की विशिष्ट विलक्षणता ही प्रतीत होती है। नीति-कथाएँ, दृष्टान्त और कहानियाँ प्रत्येक सिद्धान्त को सुविवेचित तर्कशास्त्रीय युक्तियों की अपेक्षा अधिक उत्तम रीति से और कहीं और विशद

प्रकार से स्पष्ट करती हैं। कठोर तर्कशास्त्रीय आधार के विकास में जो अभाव देखने में आया उसकी कहीं अधिक क्षति-पूर्ति जीवन के प्रति सुस्पष्ट वैज्ञानिक दृष्टि एवं मानव के प्रति व्यापकतर आग्रह से हो गई। यह तथ्य हमें स्वभावतः म. भा. आ. के प्रमुख योगदान की ओर ले जाता है जो कि उसने नीतिकथाओं, कहानियों, दृष्टान्तों और वर्णनात्मक साहित्य के क्षेत्र में दिया है।

यह सामान्यतः स्वीकार किया जाता है कि शिक्षात्मक नीतिकथाओं का मूल आरम्भिक वैदिक साहित्य में है और धार्मिक साहित्य से पृथक् जन-साहित्य में उसका समावेश स्पष्ट रूप से बाद की बात है। आरम्भिक लौकिक संस्कृत-साहित्य के साक्ष्य के आधार पर यह उदाहरण के तौर पर प्रकट हो जायगा कि पशु-कथाएँ रामायण और महाभारत दोनों महाकाव्यों और महान् वैयाकरण पतंजलि के पूर्व वस्तुतः प्रचलित थीं लेकिन कीथ का कथन है—'हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि नीतिकथाएँ किसी प्रकार के साहित्यिक रूप के अनुकूल बनकर आ चुकी थीं।' जबकि नीतिकथा-साहित्य अपने जटिल चक्रतन्त्र और कहानियों के भीतर कहानियों के अन्तर्ग्रंथन के साथ संस्कृत में न्यायतः प्रसिद्ध पंचतन्त्र में विकसित हो रहा था, मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा एक स्वतंत्र पद्धति में विकास कर रही थी। उदाहरण के रूप में जातक कथाओं ने इस नीतिकथा-सामग्री को अपनाया और उससे बुद्ध और उनके समसामयिकों के पूर्व जन्म के कार्यों और उनकी महत्ता को स्पष्टतया प्रदर्शित किया। भरहुत के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साक्ष्य से यह प्रमाणित हो जाता है कि ये नीति-कथाएँ पहले से ही एक बहुत बड़ी जीवित शक्ति के रूप में बौद्ध साहित्य में अपना स्थान बना चुकी थीं। यह प्रश्न अब भी उठता है कि क्या प्राकृत नीतिकथा-साहित्य पंचतन्त्र और उस प्रकार की अन्य रचनाओं का अग्रदूत है। यह स्पष्ट है कि पंचतन्त्र (उसका मूल जो भी हो), कहीं अधिक विकसित रूप वाला है, फलतः पालि जातक कथाओं मेंउपनिबद्ध सरल नीतिकथा-साहित्य उसका समकालीन नहीं हो सकता। दूसरी ओर ये सरल नीति-कथाएँ लम्बे अरसे तक अपने अस्तित्व को बनाए रहीं।, क्योंकि धम्मपद अट्ठकथा में उनकी विशद व्याख्या देखने में आती है। परिणामतः पालि-साहित्य नीति-कथाओं में अत्यन्त समृद्ध ठहरता है और इस प्रकार के साहित्य के विकास में उसका सुस्पष्ट और निश्चित योगदान है। म. भा आ. के नीतिकथा साहित्य और उस प्रकार के साहित्य के विकास में उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव का बिना उल्लेख किए विश्वनीतिकथा-साहित्य का अध्ययन पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

ये नीतिकथाएं समस्त बौद्ध पालि-वाङ्मय और जैन निर्युक्तियों में बिखरी पड़ी हैं। जातक ग्रन्थ विशेष रूप से भारतीय साहित्य पर परवर्ती म. भा. आ. के योगदान का ठेठ नमूना प्रस्तुत करते हैं। इसकी अन्तर्वस्तु अपने को निम्न रूपों में वर्गीकृत करती है : १–नीतिकथाएँ जिनमें से अधिकांश भारतीय नीतिकथाओं की तरह नीति या सांसारिक समझदारी का उद्देश्य लेकर चलती हैं और कुछ नैतिक शिक्षा की प्रेरणा देती हैं, २–पशु-कथाओं के साथ परियों की कहानियाँ, ३–संक्षिप्त चुटकले, हास्यकर कथाएं तथा परिहास-कथाएँ जिनमें धार्मिकता का स्पर्श नहीं है, ४–साहसिक कार्यों से पूर्ण उपन्यास तथा लम्बी प्रेम-कथाएँ, ५–नैतिक विवरण, ६–उपदेशात्मक सूक्तिबद्ध पद्य या उक्ति, और ७–धर्मपरक आख्यान। जिस प्रकार इन वृहत् पालि-टीकाओं में, उसी प्रकार जैनों की विशालटीकाओं में भी हमें एक ओर बहुत सी प्राचीन ऐतिहासिक या अर्द्ध-ऐतिहासिक, परम्पराएँ तथा दूसरी ओर लोक-प्रचलित आख्यानों, नीति-कथाओं और परियों की कहानियों का विपुल परिणाम देखने को मिलता है। बौद्ध और परवर्ती हिन्दुओं की तरह जैन भी अपने समस्त धार्मिक प्रवचनों को धार्मिक या ऐहलौकिक आख्यानों से अलंकृत करके देने में, इनमें भी बाद के आख्यानों को जैन-सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए परिवर्तित करके प्रस्तुत करने में आनन्द का अनुभव करते थे। उन्होंने कथा-साहित्य की दिशा में सहज भारतीय प्रवृत्ति का लाभ उठाया। ये आख्यान और नीतिकथाएं शतियों तक फैली रहीं, और परवर्ती संस्कृत-टीकाओं में प्राप्त विवरणात्मक आख्यान भी, जैसाकि निम्न तथ्य से साक्ष्यंकित होता है, म. भा. आ. भाषा के मूल स्रोत तक ही पहुंचते हैं, वहां दी गई कहानियाँ विशुद्ध संस्कृत में प्रस्तुत न होकर अपने वर्णन के स्वाभाविक और आरम्भिक माध्यम अर्थात् प्राकृत में प्रस्तुत हुई हैं, जिनमें निबद्ध होकर ये कहानियाँ टीकाकारों के पास उनके पूर्ववर्तियों से पहुँची थीं। इस उद्देश्य से उत्तरज्झान पर शान्तिसूरि और देवेन्द्र की टीकाएं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ठहरती हैं। उनमें से अत्यन्त रोचक कहानियाँ स्वर्गीय प्रफोसर याकोबी द्वारा महाराष्ट्री में १८८६ में प्रकाशित अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'एरत्जैहलुंगेन' में उद्धृत की गई हैं।

विशाल कथा-साहित्य की ओर मुड़ने से पहले हमें गीति-काव्य (गाथा), सूक्तिबद्ध और उपदेशात्मक काव्य की दिशा में म. भा. आ. साहित्य के द्वारा किए गए प्रभावी योगदान पर विचार कर लेना चाहिए। उदाहरण के तौर पर पालि-वाङ्मय के प्राचीन 'सुत्तनिपात' में प्राप्त बहुत से पद्यों में प्राचीन गाथा-काव्य के महत्त्वपूर्ण अवशेष मिलते हैं जो कि आरम्भिक वैदिक काल में निश्चित रूप से बहुत लोक-प्रचलित रहे होंगे। गाथा-काव्यों के अतिरिक्त अक्सर

अनेक सुगठित नैतिक उक्तियों से पूर्ण एकक छन्द भी हैं, जिनमें संस्कृत और प्राकृत दोनों में प्राप्त परवर्ती सूक्तिबद्ध और उपदेशात्मक पद्यों की मूल विशेषताएँ भी प्राप्त होती हैं। 'धम्मपद' के वस्तुत: ऐसे शानदार पद्य हैं जिन्हें विश्व-साहित्य की वस्तु के रूप में सर्वत्र स्वीकृति मिल चुकी है, तथा जिसके भाषान्तर अनेक भाषाओं में उपलब्ध होते हैं। न्यायत: प्रसिद्ध थेर और थेरी गाथाओं में तापस-काव्य भी प्रचुरता से प्राप्त होते हैं, उनमें से कुछ भजन तो ऐसे हैं जिनकी विश्व-साहित्य प्रणीत किसी भी उत्तम सन्तकाव्य के साथ तुलना की जा सकती है। थेरी गाथा तो विशेष रूप से आश्चर्य-जनक है, क्योंकि इसमें थेर गाथा की अपेक्षा कहीं अधिक वास्तविक जीवन के मर्मस्पर्शी करुण चित्र प्राप्त होते हैं जोकि इन स्त्री-वृद्धाओं या थेरियों द्वारा लोगों के सहज जीवन पर पड़े धम्म (धर्म) के उदात्त प्रभावों का चित्र प्रस्तुत करते हैं। हमारी सामाजिक अवस्थाओं और प्राचीन भारत में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति के ज्ञान के लिए इन चित्रों का महत्त्व पर्याप्त रूप से स्वीकार किया जा चुका है। मठवासीय जीवन से सम्बद्ध उक्तियों से पूर्ण जैन 'देस वेयालिय' के कुछ अनुभाग बौद्धों के 'धम्मपद' से तुलनीय हैं। यह कृति प्रचुर वर्णनात्मक साहित्य से भी सम्बद्ध है, जोकि टीकाओं में प्राप्त होती है। विशेष रूप से राजीमती की गाथा 'उत्तरज्झाण' में जिस प्रकार निबद्ध है, इस कृति के दूसरे विभाग में वर्णित है। इस 'उत्तरज्झाण' की बौद्ध 'सुत्तनिपात' और धम्मपद से अनेक विषयों में तुलना की जा सकती है, और ये दोनों मिलकर जैन-साहित्य में वर्णनात्मक साहित्य के समावेश को बढ़ाने में हाथ बँटाते हैं। इन दोनों में कुछ ऐसी उक्तियां मिलती हैं जोकि तुलना के औचित्य या भाषा की सारगर्भिता में बढ़-चढ़कर हैं। इनमें गाथा-काव्य, विशेष रूप से ऐतिहासिक संवाद और तापस आख्यान भरे पड़े हैं। वास्तविक अर्थ में ये जैन और बौद्ध गाथाएँ, पौराणिक आख्यानों और कहानियों की अपेक्षा जिन्होंने आगे चलकर हिन्दुओं के धार्मिक जीवन को प्रभावित किया, कहीं अधिक जन-मानस के निकट हैं। उनकी भावप्रवण शैली, मौलिक मानवानुरोध और कृत्रिमता के पूर्ण अभाव की उन पर वह मुहर लगती है जोकि उदाहरण के तौर पर आगे चलकर मीरा या कबीर, नरसी मेहता या तुकाराम के गीतों की विशेषता बन जाती है और जिसके सार्वभौम प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता। वे इस प्रकार मानव-व्यक्तित्व की सजीव अभिव्यक्ति हैं जो साहित्य-शास्त्र और वैयाकरणों के कृत्रिम नियमों से सर्वथा अबाधित हैं तथा जो सीधे कवियों के हृदय से अविराम स्वरों में प्रवाहित हुए हैं।

विशेष रूप से कथा-साहित्य के क्षेत्र में म. भा. आ. ने भारतीय

वर्णनात्मक साहित्य पर सुनिश्चित छाप लगाकर अपना उत्कर्ष और बढ़ाया है। एक ओर यदि भारत के रामायण, महाभारत जैसे राष्ट्रीय महाकाव्यों ने, बौद्ध और जैन साहित्य की तो बात ही छोड़िए, राष्ट्र की समग्र साहित्यिक सृष्टि पर जिसमें लौकिक संस्कृत तथा उत्तरी और दक्षिणी भारत दोनों की आधुनिक देशी भाषाएँ सम्मिलित हैं, अपना प्रभाव डाला है, तो दूसरी ओर गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' के प्रभाव को अनिवार्य रूप से इनके बाद प्रथम स्थान दिया जाना चाहिए। कारण यह है कि उक्त कृति समस्त घटनाओं के अन्तिम स्रोत के रूप में जिसे लेकर एक अच्छा खासा राष्ट्रीय साहित्य निर्मित किया जा सकता है या वस्तुतः निर्मित किया जा चुका है, रामायण या महाभारत से होड़ लेती है। हम इसलिए कीथ के साथ स्वर मिला कर कह सकते हैं कि 'वृहत्कथा' का (जोकि भारतीय साहित्यिक कला का विशाल भण्डार है) मूल रूप में विलोप भारतीय साहित्य में हमारी एक गम्भीर क्षति है। कहा जाता है कि यह म. भा. आ. की पैशाची बोली में लिखित थी, इसका अस्तित्व आरम्भिक साहित्यिक उल्लेखों से कम्बोडिया में एक अभिलेखीय उल्लेख (८७५ ईसवी) से और उक्त कृति के भारत में प्राप्त अनेक संस्कृत और प्राकृत पाठों से साक्ष्यंकित हो जाता है। जब कि भारत के वृहत् महाकाव्यों ने धर्म और मोक्ष को अन्तिम आधार के रूप में देखने का प्रयत्न किया और उनपर 'आधारित समस्त साहित्य को एक निश्चित धार्मिक सम्मान प्रदान किया, वृहत्कथा' लगभग पूर्णतः एक ऐहिलौकिक कृति थी और उसने भारतीय साहित्य में विशुद्ध रूप से स्वच्छन्द प्रेम-भावना का परिचय कराया। भारत के संस्कृत और प्राकृत साहित्य पर इस विलुप्त कृति के प्रभाव का मूल्यांकन कर पाना कठिन होगा। संस्कृत के अनेक नाटक जोकि उदयन-आख्यान तथा कुछ अन्य प्रणय-प्रसंगों के इर्दगिर्द घूमते दीखते हैं, उनके चिन्हों का पता लग पाना मुश्किल होता। आल्सडोर्फ ने आरम्भिक जैन महाराष्ट्री कृति 'वसुदेव हिण्डी' पर गुणाढ्य की वृहत्कथा के प्रभाव-चिन्ह दिखाए हैं।

मुख्य वृहत् प्रेमाख्यान (रोमांच) जिनके विषय में संस्कृत साहित्य गर्वोक्ति कर सकता है, वे हैं, दण्डीका 'दशकुमार चरित', सुबन्धु की 'वासवता', बाण का 'हर्षचरित' (एतिहासिक आख्यायिका के रूप में प्रस्तुत समसामयिक जीवन-चरित्र का दुर्लभ उदाहरण) और अनेक चम्पूकाव्यों के अलावा नियमित प्रेमाख्यान कादम्बरी हो सकता है कुछ अन्य प्रेमाख्यान भी रहे हों, पर आज उनके अवशेष उपलब्ध नहीं हैं। यदि हम जैनों की ओर मुड़ें तो हम उन्हें ऐतिहासिक चरितों, अर्ध ऐतिहासिक विवरणों के लेखक और विशेष रूप से प्रेमाख्यानों के जो स्पष्ट रूप से धार्मिक प्रकृति के हैं, कथकों के

रूप में पाते हैं। उनमें से अनेक चरित प्राकृत में रचित हैं और व्यक्तिगत जैनों के जीवन का विवरण प्रस्तुत करते हैं। इस श्रेणी की एक सुपरिचित रचना याकोबी द्वारा संपादित 'सनत्कुमारचरितम्' है जोकि ११५६ ईसवी में अपभ्रंश में लिखित हरिभद्र के 'वृहत् नेमिनाहचरिउ' का एक भाग है। इसी प्रकार का एक दूसरा वृहदाकार ११४२ ईसवी में रचित ग्रन्थ लक्ष्मण गणिन् का 'सुपासनाहचरियम्' है। अर्ध ऐतिहासिक प्रबन्ध मुख्यतः संस्कृत में लिखे गए हैं लेकिन उनकी साहित्यिक शैली बिल्कुल वही है जोकि म. भा. आ. भाषा में लिखित चरितों एवं अन्य विवरणों में पाई जाती है और वे उसी म. भा. आ. परम्परा को बनाए हुए हैं जोकि इन क्रिया-कलापों के पीछे काम कर रही है।

यहाँ स्वभावत: जैनों के संस्कृत और प्राकृत दोनों में—अपभ्रंश को सम्मिलित करके—लिखे गए समृद्ध पौराणिक साहित्य की ओर ध्यान जाता है। अनेक परीकथाओं, आख्यानों नीतिकथाओं और परम्परागत कहानियों से लेकर वर्णनात्मक, जीवन-चरितात्मक तथा अर्ध ऐतिहासिक साहित्य में हमें उक्त क्षेत्र का विस्तार ही केवल नहीं मिलता, बल्कि पौराणिक साहित्य के रूप में महाकाव्य-साहित्य भी उपलब्ध होता है, जहाँ जैनों ने हिन्दुओं को म. भा. आ. की साहित्यिक परम्पराओं और महाकाव्य-सामग्री को भी अपनाया है। आरम्भिक अध्यायों में इसका पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि हिन्दू-पुराणों की भाषा म. भा. आ. आधार को प्रदर्शित करती है, यद्यपि इसका परिणाम विशुद्ध और अशुद्ध सस्कृत का मिश्रण प्रतीत होता है। आधुनिक भारतीय देशी भाषाओं विशेषत: तमिल-कन्नड की बात छोड़िए, जैन-पुराण संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में लिखे गए हैं। विलसूरि का 'पउमचरिउ' इनमें से प्राचीनतम है, उसमें पउम या राम की कथा वर्णित है और उसमें प्रसिद्ध राम-कथा का एक पाठान्तर प्रस्तुत होता है। इसी प्रकार जैनों ने भारत के महान् महाकाव्य को अपने अनुकूल बनाया है और इस में प्राचीनतम है जिनसेन का 'हरिवंश पुराण' जो सस्कृत में लिखित है और ७८३ ईसवी में पूर्ण हुआ है। पुष्पदन्त का 'महापुराण' अपभ्रंश में लिखित एक विशालतम ग्रन्थ है। इस प्रकार हिन्दू पुराणों के समानान्तर जोकि इन कृतियों के आरम्भिक रूप में म. मा. आ. माध्यम के प्रयोग को साक्ष्यंकित करते हैं, जैन-पुराण भी म. भा. आ. द्वारा परम्परागत इतिहास के विकास में किए गए योगदान को प्रदर्शित करते हैं। कन्नड़, तमिल, और अन्य भाषाएं इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं कि जैन शिक्षकों में अपने धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए अधिक से अधिक लोगों के पास पहुँचने की इच्छा लगातार बढ़ रही

थी। इस प्रकार साहित्यिक माध्यम के रूप में म. भा. आ. को सुरक्षित रखने तथा सही जनभाषाओं को विकसित करने की दिशा में वड़ा से वड़ा योगदान जैनों के द्वारा हुआ है, जबकि इस प्रकार के विकास के लिए हिन्दुओं और बौद्धों की ओर से, जोकि अपनी पाण्डित्य-पूर्ण रचनाओं के लिए प्राचीन माध्यम संस्कृत को अपनाएं हुए थे, बहुत कम प्रोत्साहन मिला।

जैनों का एक विशिष्ट योगदान जो कि वर्णनात्मक साहित्य के क्षेत्र में हुआ है, वह है उनका धार्मिक उपन्यास 'धम्मकथा'। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम साक्ष्य पादलिप्त (म. भा. आ. पालित्त) सूरि की 'तरंगवती' से प्राप्त होता है जो हम तक मूल रूप में न पहुंच कर लगभग एक हजार वर्ष बाद 'तरंगलोला' शीर्षक के अन्तर्गत लिखित १६४३ प्राकृत छन्दों की अपेक्षाकृत केवल संक्षिप्त विवरण में प्राप्त होता है। पालित्त सूरि 'अणुयोगदारा' में तरंग वैकार रूप में पहले ही उल्लिखित किए जा चुके हैं और विद्वानों का विश्वास है कि इसी कारण यह कृति पांचवीं ईसवी शती से पूर्व लिखी जा चुकी होगी। यह कृति निश्चित रूप से प्राकृत कविता हरिभद्रकृत 'समराइच्च कहा' की जिसे लेखक 'धर्म कहा' नाम से अभिहित करते हैं, आदि रूप रही होगी। यह कृति गद्य में लिखित है जिसमें बीच-बीच में अलग-अलग के पद्य-भाग सन्निविष्ट हैं। शैली सरल और सुबोध है, लम्बे समासों के प्रयोग तथा अलंकृत काव्य-खंडों के होते हुए भी बाण और सुबन्धु की शैली-जैसी जटिल नहीं है। नौ पुर्नजन्मों द्वारा नायक का इतिहास वर्णित हुआ है। और वह इस प्रकार अच्छी परम्पराओं को बनाए रहता है जो बौद्ध जातक, अवदान और आरम्भिक जैन-ग्रन्थों में प्राप्त होती है।

पूर्णतः पद्य में लिखे गये अनेक प्रेमाख्यान उपन्यास हैं यथा धणवाल द्वारा अपभ्रंश में लिखित प्रसिद्ध 'भविसयत्त कहा' या 'मलयसुन्दरी कथा' जिसमें किसी अविदित कवि ने परी कथाओं की लोक प्रचलित विषय-वस्तु को उसी प्रकृति के प्रेमाख्यानपरक जैन महाकाव्य के रूप में प्रस्तुत किया प्रतीत होता है।

इस समृद्ध कथा-साहित्य के अतिरिक्त जो कि प्रा. भा. आ. में साहित्य की किसी समान श्रेणी से विस्तार में बढ़कर है, जैनों ने कथानकों या छोटी कहानियों की एक श्रृंखला प्रस्तुत की है, जिनमें से अनेक टीकाओं में सम्मिलित कर ली गई हैं और अनेक बार स्वतंत्र कृति के रूप में भी लिखी गई हैं तथा यदा-कदा उन्हें अलंकृत कविताओं के रूप में विस्तार मिला है। इस श्रेणी की सुविख्यात कृति जो कल्पसूत्र के पाठ के अन्त में बौद्ध भिक्षुओं द्वारा सस्वर पढ़ी जाती रही, वह है 'प्राकृत कालकाचार्य कथानक'। इन कृतियों में

से अनेक संस्कृत में प्राप्त होती हैं परन्तु सामान्य विचार के पश्चात् हमें यह विदित हो जाता है कि यह म. भा. आ. परम्परा जैनों से इतर विद्वन्मंडली को इस धर्म में अपने अनुकूल बनाने के लिए संस्कृत की ओर बढ़ी थी। वस्तुत: प्रतीकात्मक उपन्यास 'उपसमिति भवप्रपंच कथा' के लेखक मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं कि प्राकृत के उपयोग न करने का यह कारण नहीं हैं कि वह अपढ़ लोगों की भाषा है, केवल संस्कृत का उपयोग इसलिए किया जा रहा है कि शिक्षितों को उनके विधर्मी विचारों से इस सिद्धान्त की ओर लाया जा सके।

इस प्रकार के साहित्य के और अधिक विस्तार के रूप में हमें अनेक म. भा. आ. कथाकोश देखने को मिलते हैं जो कि इस समृद्ध सामग्री का उपयोग करते हैं। सामान्यत: इनके पद्य प्राकृत में लिखे होते हैं, जबकि अवशिष्ट पाठ्य भाग संस्कृत में होता है जो कि म. भा. आ. के निश्चित प्रभाव-चिन्हों का सूचक है और परिणामत: पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा 'अशुद्ध संस्कृत' नाम से अभिहित होता है। अपभ्रंश में लिखित श्री चन्द्र का 'कथाकोश' आकस्मिक घटना नहीं कही जा सकती, क्योंकि ग्यारहवीं ईसवी शती से सत्रहवीं ईसवी शती तक अनेक प्राकृत और मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की समान कृतियाँ उपलब्ध होती हैं।

सामान्यत: भारतीय कथा-साहित्य के क्षेत्र में किये गये सभी महत्त्वपूर्ण योगदानों पर विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि म. भा. आ. का बहुसर्जक रूप में इस सम्बन्ध में निर्विवाद एवं विशिष्ट स्थान है। यद्यपि साहित्य के इस प्रकार का उद्‌भव उससे नहीं हुआ है, फिर भी उसने इसे विकसित किया है और धार्मिक अनुभवों को अभिव्यक्ति देने के अत्यन्त सजीव माध्यम के रूप में लगातार उसे जीवित रखा है।

थेर और थेरी गाथा के प्रसंग में हम पहले ही म. भा. आ. में प्राप्त गीति-काव्य का उल्लेख कर चुके हैं। यद्यपि प्रगीत म. भा. आ. के साथ विशेष रूप से परिसीमित नहीं किए जा सकते, क्योंकि कोई भी संस्कृत साहित्य का इतिहास इस बात को प्रमाणित कर देगा, परन्तु यह तथ्य भी हमारे सामने आए बिना नहीं रहता कि संस्कृत प्रगीतों की प्रगति के साथ-साथ प्राकृत प्रगीतों का विकास भी घटित होता चल रहा था, जोकि धार्मिक नहीं थे, वशुद्ध रूप से ऐहलौकिक थे तथा जिन्होंने प्राकृत से अपभ्रंश में तथा आगे चलकर आधुनिक जन-भाषाओं में स्थान पाया। जब कि ऐहलौकिक प्रगीत विकसित हो रहे थे, वहीं भक्ति—दिव्य प्रेम-सम्बन्ध के महान् वैष्णव-सम्प्रदाय के धार्मिक पुनरुत्थान के समानान्तर ऐहलौकिक प्रगीतों में ईश्वर के साथ सम्मि-

लन की दिव्य कामना के रूप में उदात्तीकरण देखने में आ रहा था। लेकिन फिर भी प्राकृत प्रगीत का मूल जो उक्त प्रकार के उन्नयन पर आधारित है, तत्त्वत: अपनी प्रकृति में ऐहलौकिक है। इस प्रकार का सुविज्ञात गीतिकाव्य जोकि हमें संग्रह-ग्रन्थ के रूप में प्राप्त है, उसका श्रेय हालको दिया जाता है, जिसमें सात सौ से अधिक गाथाएं विद्यमान हैं। कीथ के कथनानुसार 'सत्तसई' की प्राकृत गाथाओं की अपनी एक सुनिश्चित प्रकृति है जो संस्कृत में उस रूप में फिर से सृष्ट नहीं हुई। वे गाथाएँ उनका अन्तिम उद्देश्य कुछ भी हो, जीवन की निकटता और सामान्य वास्तविकताओं से परिपूर्ण हैं और यह बात समान प्रकृति की प्रा. भा. आ. की किसी कृति में कठिनता से मिलेगी। यह भी सम्भव है कि वे गाए जाने के लिए बनी हों। पूरी प्रदीप्ति के साथ चित्रित प्रेम के विविध रूप उनकी प्रमुख विषयवस्तु है और जहाँ-कहीं भी भौतिक पार्श्वों का उन्नयन हुआ है, वहाँ दिव्य-शक्ति के साथ सयोग या ऐकात्म्य के नियत ध्येय की दिशा में बढ़ती हुई आत्मा के आध्यात्मिक या रहस्यात्मक अनुभव के अभिव्यक्ति की क्षमता भी दीख पड़ी है। इस गीति-काव्य ने कहां तक वैष्णवों की विशिष्ट धार्मिक कविता की वृद्धि को प्रभावित किया है, यह अतिरिक्त शोध का विषय है। लेकिन सम्बद्ध साक्ष्य से यह स्पष्ट संकेत मिल जाता है कि इस गीति-काव्य ने अन्तत: अनेक प्रकार के धार्मिक और तत्त्वत: भक्तिपूर्ण गीतों को जन्म दिया जोकि अवधी और ब्रज की तरह प्राचीन गुजराती, प्राचीन बंगाली और प्राचीन मराठी में गाए गये हैं। धार्मिक भजनों, जयदेव के गीत गोविन्द में संगृहीत गीतों तथा चैतन्य के अनुयायियों द्वारा रचित गीत-संग्रहों के अतिरिक्त संस्कृत में ऐसी और कोई चीज नहीं मिलती।

इससे स्वभावत: संगीत और गानों के सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठ खड़ा होता है। यदि गाथा का शब्द के सही अर्थ में गाए जाने से ही तात्पर्य था तो भारत में संगीत के विकास की क्या स्थिति थी? इसकी प्राचीनता सम्भवत: सामवेद–परम्परा तक पहुंचती है, परन्तु उतने प्राचीन काल से इस परम्परा के समग्र इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए सामग्री अपर्याप्त है। जबकि मध्यकालीन और संस्कृत में लिखित कदाचित् आरम्भिक कृतियों में भी संगीत-शास्त्र पर सुव्यस्थित रूप से विचार किया गया है, फिर भी यह अपरिहार्य तथ्य है कि नान्यदेव के 'भरतभाष्य' की तरह इस विषय पर अनेक टीकाएं और स्वतंत्र ग्रन्थ हैं जोकि अपनी गीत-सामग्री के लिए प्राकृत-साहित्य से बड़े पैमाने पर उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। यह इसलिए कल्पना ही नहीं की जा सकती कि संगीत जैसी महत्त्वपूर्ण लोक-कला के विकास पर म. भा. आ. का

कोई प्रभाव ही नहीं था। उदाहरण के तौर पर 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में हम देखते हैं कि राजा जब अत्यधिक विषण्ण और उन्माद की स्थिति में होता है, अपभ्रंश-गीत गाना आरम्भ कर देता है। यद्यपि ये गीत मौलिक न माने जाकर प्रक्षिप्त माने जाते हैं, फिर भी यह तथ्य ज्यों-का-त्यों बना है और इससे सर्वसम्मति से यह प्रमाणित हो जाता है कि गाने के काम के लिए किसी न किसी म. भा. आ. माध्यम का उपयोग किया जाता रहा। वस्तुतः कालिदास के नाटकों में आमुख भाग के अधिकतर गीत प्राकृत में हैं, और यदि यह माना जाए कि ऐसे स्थलों पर सामान्यतः स्त्री पात्र होते हैं और उन्हें परम्परा के अनुसार प्राकृत ही बोलनी होती है तो इसके विरोध में यह तर्क भी दिया जा सकता है कि इन नाटकों में स्त्रियाँ संस्कृत में संलाप करती और गाती भी देखी जाती हैं। और पात्र नटी से, यदि जीवन की सहजता बनाए रहे, यह बात स्पष्ट हो जाती हैं कि संगीत पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के साथ अधिक अनुकूल लगता है। इस प्रकार रूढ़ि के बावजूद, संस्कृत नाटकीय अभिनयों में प्राकृत गाथाओं और गेयता के बीच हमें एक कड़ी देखने को मिलती है।

संस्कृत में अत्यन्त व्यापक अलंकारशास्त्रीय साहित्य के पर्यवेक्षण से अलंकार के संप्रत्ययों की अभिवृद्धि पर म. भा. आ. के प्रभाव का साक्ष्य मिलता है। कोई भी ऐसी कृति नहीं है जिसमें विवेचित किसी विशिष्ट विषय के लिए साहित्य के विविध ज्ञात या अज्ञात ग्रन्थ रत्नों से उदाहरण के रूप में प्राकृत छन्द न उद्धृत किए गए हों। म. भा. आ. साहित्य स्वयं भारतीय साहित्य-शास्त्र के विकास के लिए किस सीमा तक उत्तरदायी है, यह विषय इस वर्तमान लेखक के क्षेत्र से बाहर है, लेकिन यह खोज निकालना अत्यन्त रोचक होगा कि क्यों साहित्य-शास्त्रियों ने प्राकृत-ग्रन्थों से उद्धरण दिए हैं और यह पता लगाना भी कि वे कौन से स्थल हैं, जहां पूर्णतः प्राकृत-स्रोत से ही उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं।

लोक-कला के रूप में संगीत के साथ नृत्य का निकट सम्बन्ध-ठहरता है। भारत का 'नाट्यशास्त्र,' जोकि एक विश्वकोश-जैसी कृति है, स्वयं अपने अनेक भागों में म. भा. आ. के व्यापक प्रभाव को सूचित करता है। उसमें प्राकृत-भाषाओं का भी एक विभाग है, और यदि नाट्यशास्त्र के अनेक पक्षों से सम्बद्ध पारिभाषिक पदावली पर विचार किया जाए, प्राकृतमूलक शब्दों की संख्या आश्चर्यजनक निकलेगी। जन-जीवन के साथ इसका निकट सम्बन्ध देखते हुए, यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि बुद्ध और महावीर के समय से म. भा. आ. के लम्बे विकास के दौरान इन बोलियों का पारिभाषिक

पदावली या उक्त कला के विकास पर कोई प्रभाव न रहा हो। यह दुर्भाग्य-पूर्ण स्थिति है कि प्राकृत में संगीत या नृत्य पर स्वतन्त्र रूप से कोई शास्त्रीय ग्रन्थ नहीं उपलब्ध होता। पालि ने तो कुछ अलंकार-ग्रन्थों पर संस्कृत का अन्धानुकरण किया है। इसलिए हमें इस सम्बन्ध में म. भा. आ. के दावे को बताने में निश्चित रूप से सावधानी बरतनी चाहिए। सांपाश्विक साक्ष्य से यह विदित होता है कि कुशल संगीत और नृत्य अध्यापक के लिए संस्कृत का ज्ञान आवश्यक समझा जाता था, लेकिन दूसरी ओर एक सुभाषित में नट या नर्तक के सम्बन्ध में एक तिरस्कार-पूर्ण उल्लेख मिलता है, जिससे यह सूचना प्राप्त होती है कि अपशब्द-मृग जो वैयाकरण-किरात के बाणों से बच निकलना चाहता है, नर्तक आदि के मुख में शरण पा जाता है, इससे यह धारणा बद्धमूल होती है कि नट के लिए कुशल संस्कृतज्ञ होने की आवश्यकता नहीं है।

संगीत या नृत्य के इन पक्षों से उद्भूत या इन्हीं का समकालिक म. भा. आ. के छन्दः शास्त्र का पक्ष है। सामान्य लौकिक संस्कृत-छन्दों की माप अक्षरों की संख्या से होती है, लेकिन वे छन्द जिनमें मात्राओं का योग नियत रहता है, अपने मात्रा-छन्दों के अभिधान के कारण अक्षर-छन्दों से भिन्न ठहरते हैं। इसमें कुछ नियंत्रणों के अधीन अक्षरों की संख्या के परिवर्तन की छूट रहती है और यह लोकप्रिय कविता की देन प्रतीत होती है। यदि प्राकृत छन्दोयोजना के ग्रन्थों का अध्ययन किया जाए, यह स्पष्ट हो जाएगा कि ये मात्राछन्द या तालवृत वस्तुतः प्राकृत कविता के प्रतिमान हैं। इसमें स्वभावतः यह सूचित हो जाता है कि 'लोकप्रिय कविता' जिसका ऊपर उल्लेख हुआ है, भारतीय छन्दः शास्त्र में म. भा. आ. की देन ही रही होगी। पारिभाषिकता में गए बिना यह एकदम कहा जा सकता है कि तालवृत्त या मात्रावृत्तों ने न केवल लौकिक संस्कृत-कविता के छन्दोंविधान को प्रभावित किया है, बल्कि नवीन भारतीय आर्य देशी भाषाओं के लोकप्रिय छन्दों में भी प्रवेश कर लिया है, जैसे 'रामचरित मानस' या लोक प्रचलित मराठी 'ओवी' में। प्रोफेसर वेलंकर ने यह प्रदर्शित कर दिया है कि मराठी 'ओवी' प्रत्यक्षतः अर्ध चतुष्पदी से उद्भूत है। वस्तुतः उत्तर भारतीय देशी भाषा के सभी लोकप्रिय मात्राछन्दों या तालवृत्तों के परीक्षण से यह प्रतीत होता है कि उक्त छन्द कुछ आवश्यक परिवर्तनों के साथ सीधे संवादी म. भा. आ. छन्दों से उद्भूत हुए हैं। परिवर्तन की यह क्षमता वस्तुतः गेय पद्यों के अभिग्रहण के लिए अत्यन्त अनुकूल थी और इनका संगीत एवं नृत्य जैसी ललित कलाओं तथा जनप्रिय लोक-काव्य की समस्त विशेषताओं से निश्चित सम्बन्ध था। इस प्रकार के छन्दोविधान से

सम्बद्ध एक अत्यन्त विस्तृत ग्रंथ हेमचन्द्र का 'छन्दोऽनुशासन' है जिसके प्रासंगिक अध्यायों का सम्पादन प्रोफेसर वेलंकर ने रायल एशियाटिक सोसायटी की बम्बई शाखा की पत्रिका में किया है।

दार्शनिक संप्रत्यय के क्षेत्र में तो म. भा. आ.- साहित्य संस्कृत में लिखित कहीं अधिक गंभीर ग्रन्थों की अपेक्षा घटिया रहा है। वृहत् धार्मिक सक्रियता ने जो कि गौतम बुद्ध और महावीर की शिक्षाओं में चरमोत्कर्ष पर पहुंची थी, ब्राह्मण-संप्रदायों द्वारा नई छानबीन का साथ-ही-साथ प्रवर्तन किया, और क्रमशः इन संप्रदायों के सिद्धान्तों को प्रभावित किया। दर्शन के इनषट्-संप्रदायों का संहिताकरण बौद्ध और जैन संहिताओं के निर्माण का समकालीन या उत्तरवर्ती ही रहा होगा। विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों के प्रवर्तकों के साथ जिन्होंने संहिताबद्ध दर्शनों पर वृहत् टीकाएं लिखीं, शंकराचार्य के पूर्ववर्ती नागार्जुन, वसुबन्धु और असंग से तुलना की जा सकती है। यद्यपि ये दार्शनिक मूलतः अपने ग्रन्थ संस्कृत में लिखते रहे, म. भा. आ. स्रोतों से उनका परिचय अवश्य था जैसा कि तुलनात्मक अध्ययन से शीघ्र प्रमाणित हो जाएगा। और साथ ही साथ यह भी अनुस्मरण अवश्य है कि दुर्बोध दार्शनिक शैली को बताते हुए तथा उपयुक्त नीतिकथाओं एवं दृष्टान्तों द्वारा समस्त तर्कशास्त्रीय या तात्त्विक या रहस्यात्मक संप्रत्ययों के भी पीछे विद्यमान धर्म के नैतिक आधार एवं चेतना को प्रकाश में लाते हुए उन्होंने उक्त दर्शन में व्याप्त सत्य की तीव्र अनुभूति को जीवन्त रूप में अभिव्यक्त किया। अपने जीवन में यहीं, इसी जन्म में सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य की अनुभूति को आत्मसात् करना, जोकि दार्शनिक तन्त्रों में वे चाहे जितने सूक्ष्म, असाधारण और शानदार क्यों न हों, नहीं मिल पाता, म. भा. आ. साहित्य का प्रमुख लक्ष्य था। मानव-मस्तिष्क की मानसिक क्षमता तथा विचार-शक्ति पर अत्यधिक निर्भरता से बचते हुए बौद्ध सिद्धान्तों ने उदाहरण के तौर पर बार-बार व्यावहारिक अनुभूति पर बल दिया है। इस सम्बन्ध में प्रा. भा. आ. और म. भा. आ. साहित्य में यही बहुत बड़ा अन्तर है और इस सम्बन्ध में म. भा. आ. न. भा. आ. और में निर्मित साहित्य के अत्यन्त निकट ठहरती है। इस क्षेत्र में म. भा. आ. और न. भा. आ. में इस तथ्य का अन्तर है कि म. भा. आ. पूर्णतः हीनयान बौद्धों और विशुद्ध जैन-परम्पराओं से रंजित है, जबकि न. भा. आ. ने अखिल भारतीय दर्शन को आत्मसात् किया है तथा उसने विकास के विभिन्न स्तरों को सन्तुष्ट करते हुए, इन समस्त त्रिविध संप्रदायों और शाखाओं को सर्वप्रवाही भक्तिमार्गीय धर्म में समाविष्ट और संश्लिष्ट कर लिया है।

हमारे लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम प्रा. भा. आ. की तुलना में

म. भा. आ. के दार्शनिक साहित्य द्वारा विकास प्राप्त विचारों और संप्रत्ययों की अलग-अलग छानबीन में पड़ें। भारतीय दर्शन का कोई भी इतिहास-ग्रन्थ इस विकास को उसके स्वाभाविक विकास-क्रम में उपयुक्त प्रामाणिक उद्धरण देते हुए सिद्ध कर देगा। हिन्दू, बौद्ध और जैन इन तीन धर्मों के सम्बन्ध में विभिन्न विचारों के विकास का प्रश्न कुछ बुनियादी संप्रत्ययों के लिए म. भा. आ. के दावे पर अनिवार्यतः कोई प्रकाश नहीं डाल पाता। फिर भी चूंकि कम से कम आरम्भिक बौद्ध और जैन धर्म के आधारभूत ग्रन्थ म. भा. आ. में हैं, हमें यह मानना पड़ेगा कि जहां तक इन दो धर्मों का सम्बन्ध है, म. भा. आ. का गम्भीर ज्ञान अपरिहार्य है, यद्यपि विद्वतापूर्ण विवृति और विचार-विमर्श के विशिष्ट प्रयोजन के लिए म. भा. आ. प्रा. भा. आ. पर विजय पाती रही।

म. भा. आ. ने अनेक ऐहलौकिक तथा वैज्ञानिक पक्षों को स्पर्श किया है और हम यहां कुछ वैज्ञानिक विषयों के प्रचार में म. भा. आ. साहित्य के द्वारा किए गए योगदान का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

यदि हम भारतीय चिकित्सा-शास्त्र के संस्कृत में लिखे ग्रन्थों का अध्ययन करें, पहली बात जो हमारे ध्यान में आती है वह है उपयोग में लाए गए माध्यम का निकृष्ट प्रकार, वह भी कुछ शब्दों के सम्बन्ध में नहीं, अधिकतर तकनीकी प्रकृति के शब्दों के सम्बन्ध में जोकि संस्कृतेतर भाषा में प्रयुक्त हुए हैं। हम इन टिप्पणी को विविध विज्ञान और कलाओं की तकनीकी पदावली तक ले जा सकते हैं और कुछ अधिक छानबीन करने पर यह प्रमाणित हो जाएगा कि उनमें से अनेक म. भा. आ. की हैं। हमारे सामने समस्या यह नहीं है कि भारतीय संस्कृति का निर्माण करने वाले तत्वों की, जिनका अन्तिम स्रोत कुछ भी हो, जांच-पड़ताल की जाए, हमें तो पूरे तौर से चिन्ता इस बात की है कि संस्कृति-समष्टि की दिशा में म. भा. आ. का कितना योग रहा। नालन्दा और तक्षशिला के विश्वविद्यालयों में सैकड़ों वर्षों तक आयुर्वेद, दर्शन और धर्म-विज्ञान के साथ-साथ ऐहिक ज्ञान की समस्त शाखाएँ विकसित होती रहीं। जिस माध्यम में कृतियाँ हम तक पहुंची हैं, वह है एजगर्टन की 'मिश्र बौद्ध संस्कृत' या अन्य विद्वानों की 'संकर संस्कृत'। इनमें से पर्याप्तसंख्यक कृतियों का अनुवाद तिब्बती और चीनी भाषा में हुआ और यह भी एक रोचक उल्लेख है कि खेतान या अन्यत्र उपलब्ध पांडुलिपियों के अवशेषों में अनेक चिकित्साशास्त्रीय-ग्रन्थ खोज में हाथ आए हैं। इनमें से अनेक मौलिक 'मिश्रित संस्कृत' ग्रन्थों के तोखारी,या मध्य ईरानी पाठान्तर हैं।

जैनों ने, वर्गीकरण की असाधारण सहज प्रवृत्ति के साथ, अपना पूरा ध्यान चिकित्सा-शास्त्र की विभिन्न शाखाओं और सामान्यतः चिकित्सा-ज्ञान

की दिशा में लगाया, यह बात उनके ग्रन्थों में प्राप्त विभिन्न उद्धारणों से प्रमाणित हो जाती है। इस प्रकार उदाहरण के रूप में 'तण्डुलवेयालियपइण्ण' को लिया जा सकता है जिसमें महावीर और गौतम के बीच गद्य और पद्य में मिश्रित संवाद चलता है जिसमें शरीर-क्रिया विज्ञान और शरीर-रचना-विज्ञान, भ्रूणजीवन, मनुष्य की दस अवस्थाएं आदि, अस्थियों और कंडराओं की संख्या पर सामान्य विवरण मिलता है। भ्रूणविज्ञान के सम्बन्ध में यह ज्ञान सचमुच विस्मयकारी है। इसी प्रकार शरीर-रचना-सम्बन्धी ज्ञान अपने उच्चस्तर पर था। एक अर्थ में जैनों का अपने साहित्य में ऐहिक ज्ञान के वृहत् भाग का अच्छा खासा योगदान है जिसमें हमेशा अन्ततोगत्वा जागतिक तत्त्वों से व्यक्ति का ध्यान हटाकर उसको आत्मविषयक अन्तिम सत्य की ओर ले जाने का रहा है। यही कारण है कि हम उनके साम्प्रदायिक एवं सम्प्रदायेतर साहित्य में अनेक दिशाओं में उस प्रकार के योगदान के प्रत्यक्ष चिह्न पाते हैं जिसकी तुलना में मानव-शरीर का ज्ञान कोई महत्त्व नहीं रखता।

जैन-वाङ्मय में विशेष रूप से खगोल-विज्ञान और फलित ज्योतिष के क्षेत्र में हमें समृद्ध साहित्य उपलब्ध होता है। इस वाङ्मय के पांचवे, छठे और सातवें उवंगों में खगोल-विज्ञान, भूगोल, ब्रह्माण्ड-विज्ञान और काल-विभाग पर वर्णन मिलते हैं। वे विज्ञान की इन शाखाओं की जैन-धारणा के सम्बन्ध में विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

सम्भवतः विद्वानों को यह जानकारी भी रोचक लगे कि इन दिशाओं में बहुत से ज्ञानरत्न पालि और अर्धमागधी वाङ्मय में छिपे पड़े हैं। उदाहरण के रूप में पालि-वाङ्मय के 'अंगुत्तर निकाय' में आनन्द बुद्ध की शक्ति के सम्बन्ध में उनसे प्रश्न करता है, बुद्ध के प्रकाश को किस सीमा तक विश्व में देखा जा सकता है और बुद्ध की वाणी को कहां तक सुना जा सकता है। यदि यह परी-जैसा संवाद सही रूप में प्रस्तुत किया जा सके और गणितीय समस्या की तरह इसका परीक्षण किया जाए, इससे त्रि-आयामात्मक विश्व की सीमा के सम्बन्ध में जो रूप उभरेगा, वह सचमुच आश्चर्यजनक होगा और उससे बहुत निकटता से मिलता-जुलता होगा जिसे सापेक्षता के आधुनिक सिद्धान्तो ने विश्व की सीमा के सम्बन्ध में सामने रखा है। ये संगतियाँ यादृच्छिक या आकस्मिक मात्र हैं, या इनके बीच कोई ऐसी सही व्यवस्था है जिसने प्राचीनों को भी आश्चर्यजनक रूप से आधुनिक निष्कर्ष पर पहुंचा दिया, इसे तो भविष्य के शोध और अनेक उस प्रकार की सदृश उपलब्धियां ही प्रमाणित कर सकती है।

म. भा. आ. का जिस सभ्य जीवन के निर्माण में कुछ योगदान है उसके

विभिन्न पक्षों की स्थूल रूप रेखा मैंने यहां प्रस्तुत की है, लेकिन ईसापूर्व ५०० शती से लेकर लगभग १००० ईसवी शती तक कला, साहित्य और विज्ञान के की दिशा में तथा भारत के जीवन को समृद्ध बनाने में प्राकृत भाषाओं ने जो विविध योगदान किया है, वह उक्त विवरण से पर्याप्त स्पष्ट हो जाएगा। प्रा. भा. आ. के साथ-साथ, और विशेष रूप से एशिया में बौद्धों के प्रसार के परिणामस्वरूप यह सांस्कृतिक विरासत चीन, तिब्बत, और अन्य मध्य एशियाई भागों तक फैल गई। उस सामग्री ने जो उपलब्ध हो रही है, या पहले हो उपलब्ध हो चुकी है विद्वानों की दो पीढ़ियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है, अनेक नई भाषाएं खोज में आई हैं, तथा चीनी, तिब्बती तथा मध्य एशियाई अनुवादों से बहुत से विलुप्त शब्द प्रकाश में आए हैं। इस प्रकार म. भा. आ का कार्य-क्षेत्र न केवल भौगोलिक क्षेत्र तक बढ़ा है, बल्कि उसका सांस्कृतिक प्रभाव-क्षेत्र उतना ही व्यापक है जिसके परिणाम स्वयं अपने को अनुभव कराने लगे हैं। विशेष रूप से योरोपीय और अमरीकी राष्ट्रों पर बुद्ध-धर्म का प्रभाव आलोकनीय है, वह भी तब जबकि युद्ध के बादल छंट चुके हैं और व्यक्तिगत रूप से अपेक्षाकृत गम्भीरता के साथ सोचने के लिए उपयुक्त नीरवता और शान्ति विद्यमान है।

इस अध्याय के आरम्भ में जैसा उल्लेख किया जा चुका है म. भा. आ. का प्रभाव विशेष रूप से आध्यात्मिक जीवन के क्षेत्र में देखा जाना चाहिए। यद्यपि भारत के सांस्कृतिक जीवन पर म. भा. आ. का वास्तविक योगदान विशाल और विविध रहा है, फिर भी अध्यात्मिक जीवन की अभिव्यक्ति में एक निश्चित एकता और उत्कर्ष देखने को मिलता है, जिसके प्रत्यक्ष को, भले ही वह धुंधला क्यों न हो, यह साहित्य सम्भव बनाता है।

उपसंहार

मध्यकालीन भारतीय साहित्य का इतना विस्तृत क्षेत्र है तथा उसका योगदान इतने विविध पक्षों में है कि इस साहित्य ने हमारी आधुनिक भाषाओं, साहित्यिक प्रकारों तथा सामान्य संस्कृति के विकास में अच्छा योग दिया है। हम लोगों ने देखा कि किस प्रकार प्राचीन भारतीय आर्य भाषाएं भी उन अवश्यम्भावी प्रभावों से अछूती नहीं रहीं जिनका प्रभाव मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं की ध्वनि-प्रक्रिया, रूपविधान और फलस्वरूप उनकी शब्द-राशि पर पड़ा। जैसे-जैसे आगामी अनुसन्धान इस साहित्य की जीवन शक्ति और इसके निरन्तर बढ़ते योगदान को प्रकट करेंगे, हम संभवतः इस विकास को इसके दिक् और काल के सन्दर्भ में अधिक सुस्पष्ट रूप से खोज सकेंगे। कई ऐसे पक्ष भी हैं, विशेष रूप से चित्रकला के, जिन्हें इस ग्रन्थ में नहीं उठाया गया है।

हमारे समक्ष एक ऐसा क्षेत्र है जिस पर सचमुच कार्य नहीं किया गया है। कुछ स्थल ऐसे हैं जिन्हें छुआ तक नहीं गया है और कुछ स्थल ऐसे हैं जिन्हें अस्पष्ट रूप से देखा गया है। हमारे पीछे आधुनिक विद्वानों की छः पीढ़ियों के कार्य हैं जिन्होंने आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषण की खोज की लेकिन

जो कुछ अर्जित किया गया है, वह उसके सामने फीका पड़ जाता है, जो कुछ हमारे आगे है। यह जानकर आश्चर्य नहीं होगा कि संस्कृत की भांति पालि और प्राकृत में भी कुछ ही ग्रन्थ ऐसे हैं जिनको वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पादित किया गया है। पालि और अर्धमागधी ग्रन्थों के समीक्षात्मक संस्करण उनके निर्धारित मापदण्डों के अनुरूप विरल हैं, यद्यपि सामान्य नियम के अनेक अपवादभी हैं।

उस समय जबकि विश्व प्रलयंकारी युद्ध से आक्रांत हो गया है जबकि सांस्कृतिक मूल्यों ने अस्थायी रूप से अपना तात्त्विक महत्त्व खोदिया है, संस्कृत शास्त्रियों का अरण्य-रूदितम्—भविष्य की बजाय अतीत पर बल देना, समयानुकूल नहीं लगता। इतिहास की सीख इतिहासज्ञों के पास छोड़ी जा सकती है, साधारण व्यक्ति के लिए यह आवश्यक होता जा रहा है कि वह जीवन और मानवता के सही स्वरूप को प्रतिष्ठापित करने के उद्देश्य यह सोचे कि हममें वह कौन-सी शक्ति है जो रचनात्मक अथवा विध्वंसात्मक, इन सभी पार्थिव गतिविधियों को आगे बढ़ाती है? इस कार्य में मूलभूत मानव-स्वभाव को जानने के लिए प्राचीन और मध्यकालीन योगदान का अध्ययन भविष्य में उपयोगी सिद्ध होगा।

उद्योग-प्रतिष्ठानों का औद्योगीकरण और यौक्तिकी-करण आधुनिक समय की पुकार है। हमने देखा कि यह स्थिति कहाँ पहुंचती है: यदि आधुनिक विज्ञान की गति का व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास से सामंजस्य न किया जाए तो इसका परिणाम पूर्ण अव्यवस्था व विध्वंस होता है। इसका कारण दुर्लभ नहीं है। हमारे आधुनिक विकास में हमने लौकिक शक्तियों का सम्बन्ध आत्मिक शक्तियों से तोड़ दिया है, इसके बिलकुल विपरीत, उदाहरणार्थ जैन-साहित्य में हम पाते हैं कि वहाँ यद्यपि पार्थिव अथवा भौतिक वस्तुओं का तिरस्कार नहीं किया जाता था, उन्हें आध्यात्मिक साध्य की प्राप्ति में सहायक बनाया जाता था। चेतन व जड़ के बीच दुर्लंघ्य खाई को सैद्धांतिक रूप से ही पाटने हेतु नहीं, (जिस दिशा में आधुनिक लोग निश्चित रूप से आगे बढ़े हैं) बल्कि व्यावहारिक रूप में, अनुभूति व कार्य के द्वारा पाटने के उद्देश्य हेतु यह समृद्ध साहित्य जो कि पवित्र या अपवित्र पुस्तकालयों के गन्दे तहखानों में बिना किसी उपयोग और धब्बों के पड़ा हुआ है और जिसका हमारे लिए अब भी बड़ा मूल्य है जो कि पाण्डुलिपियों के अपने नश्वर अस्तित्व से कहीं बढ़ चढ़ कर है। हमारा यह कर्तव्य है (न केवल हमारे प्रति बल्कि भविष्य की सभी अजन्मी पीढ़ियों के प्रति भी) कि हम इस प्राचीन सम्पत्ति को सुरक्षित रखें तथा आने वाली पीढ़ियों को अपने जीवन और अनुभवों से

समृद्ध इस धरोहर को दें, ताकि मानवता के भविष्य की सुदृढ़ आधार-शिला रखी जा सके जो इन प्रारम्भिक शक्तियों से उन्नत हो।

यह व्यर्थ नहीं था जो कि प्राचीन धर्म-ग्रन्थों ने, चाहे वे हिन्दू हों या बौद्ध, जैन या ईसाई, प्रकाश की शक्तियों और अन्धकार की शक्तियों, सुर और असुर, बुद्ध और मार तथा ईसा और शैतान में अन्तर किया है। उन्होंने सदैव सही को चुना है। औद्योगिक क्रांति के पश्चात् यह प्रतीत होता है कि व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास उसके भौतिक जीवन के विकास की गति से नहीं हुआ है, और एक बार फिर इन संघर्षशील शक्तियों के मध्य शक्ति-संतुलन बिगड़ गया है। मानवता का व्यापक आधार पर आध्यात्मिक पुनरुद्धार अब आवश्यक है और यदि हमें इस प्रकृति में बार-बार होने वाली महाप्रलय की पुनरावृत्ति को रोकना है तो हमें चेतन तत्त्वों (आत्मा) के स्वास्थ्य के लिए कार्यशील होना पड़ेगा।